

133

सितंबर-अक्तूबर, 2007

मूल्य 25 रुपए

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

एम.टी. वासुदेवन नायर, सीताकांत महापात्र,
जीलानी बानो, नईम, मालचंद तिवाड़ी, दिविक रमेश,
कुबेर दत्त, राजेंद्र कुमार, मनोरमा विश्वाल महापात्र,
अशोक बाचुलकर, सुवास कुमार

विशेष : ओड़िया कविता

प्रकाशन का 28वाँ वर्ष

प्रसिद्ध भारतीय लेखकों पर बनी सी.डी.



साहित्य के क्षेत्र में दस्तावेज़ीकरण की ज़रूरत और महत्त्व को ध्यान में रखते हुए साहित्य अकादेमी ने राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त लेखकों पर डॉक्यूमेंट्री फ़िल्मों की एक परियोजना आरंभ की है। सभी फ़िल्में प्रसिद्ध फ़िल्म निर्देशकों या उन लेखकों द्वारा बनाई गई हैं, जो उस रचनाकार के काम से परिचित हैं। रचनात्मक दस्तावेज़ीकरण की यह कीमती सौगात किसी भी निजी, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय संग्रहालय के लिए महत्त्वपूर्ण है। अकादेमी ने अब तक इन लेखकों पर वीडियो फ़िल्में और सी.डी. प्रस्तुत की हैं :

(60 मिनट 150 रुपए)　(30 मिनट 100 रुपए)

अवधि :60 मिनट: लेखक / निर्देशक

- अमृता प्रीतम (पंजाबी)/ बासु भट्टाचार्य
- अख़्तर-उल-ईमान (उर्दू)/ सईद मिर्ज़ा
- वी.के. गोकाक (कन्नड)/ प्रसन्ना
- तकषी शिवशंकर पिल्लै (मलयालम)/ वासुदेवन नायर
- गोपालकृष्ण अडिग (कन्नड)/ गिरीश कर्नाड
- विष्णु प्रभाकर (हिंदी)/ पद्मा सचदेव
- विंदा करंदीकर (मराठी)/ नंदन खुधयादी
- अन्नदा शंकर रे (बाङ्ला)/ बुद्धदेव बोस

अवधि : 30 मिनट

- बालमणि अम्मा (मलयालम)/ के.एम. मधुसूदनन
- पी.टी. नरसिम्हाचार (कन्नड)/ चंद्रशेखर कंबार
- बाबा नागार्जुन (मैथिली-हिंदी)/ दीपक रॉय
- धर्मवीर भारती (हिंदी)/ उदय प्रकाश
- डी. जयकांतन (तमिल)/ सा. कंदासामी
- नारायण सुर्वे (मराठी)/ दिलीप चित्रे
- भीष्म साहनी (हिंदी)/ नंदन खुधयादी
- सुभाष मुखोपाध्याय (बाङ्ला)/ राजा सेन
- ताराशंकर बंद्योपाध्याय (बाङ्ला)/ अमिय चट्टोपाध्याय
- विजयदान देथा (राजस्थानी)/ उदय प्रकाश
- नवकांत बरुआ (असमिया)/ गौतम बोरा
- मुल्कराज आनंद (अंग्रेज़ी)/ सुरेश कोहली
- क़ुर्रतुल-एन-हैदर (उर्दू)/ मजहर क्यू. कामरान
- यू. आर. अनंतमूर्ति (कन्नड)/ कृष्णा मसादी
- वी. एम. बशीर (मलयालम)/ एम.ए. रहमान
- राजेंद्र शाह (गुजराती)/ परेश नाइक
- आले अहमद सुरूर (उर्दू)/ अनवर जमाल
- त्रिलोचन शास्त्री (हिंदी)/ सत्य प्रकाश
- रहमान राही (कश्मीरी)/ एम.के. रैना
- सुब्रह्मण्यम (तमिल)/ सौदामिनी
- ओ.वी. विजयन (मलयालम)/ के.एम. मधुसूदनन
- सैयद अब्दुल मलिक (बाङ्ला)/ दारा अहमद
- शशि देशपांडे (अंग्रेज़ी)/ सुरेश कोहली
- दीनू भाई पंत (डोगरी)/ वेद राही
- केदारनाथ सिंह (हिंदी)/ के. विक्रम सिंह
- महाश्वेता देवी (बाङ्ला)/ संदीप रे
- फकीर मोहन सेनापति (ओड़िया)/ जुगल देवता
- खुशवंत सिंह (अंग्रेज़ी)/ सुरेश कोहली
- एम.के. बिनोदिनी (मणिपुरी)/ अरिबम श्याम शर्मा
- कुँवर नारायण (हिंदी)/ के. विक्रम सिंह
- सुनील गंगोपाध्याय (बाङ्ला)/ उत्पलेंदु चक्रवर्ती
- अशोक मित्रन (तमिल)/ अमशन कुमार
- काजी अब्दुस्सत्तार (उर्दू)/ ओबैद सिद्दीक़ी
- इंदिरा पार्थसारथी (तमिल)/ रवि सुब्रमण्यम
- शहरयार (उर्दू)/ ओबैद सिद्दीक़ी
- यशपाल (हिंदी)/ कामना प्रसाद
- निर्मल वर्मा (हिंदी)/ विनय शंकर
- मनोहरराय सरदेसाई (कोंकणी)/ सुदेश एस. लोटलीकर
- सीताकांत महापात्र (ओड़िया)/ सुरेश कोहली
- विद्यानिवास मिश्र (संस्कृत-हिंदी)/ राकेश श्रीवास्तव
- केकी एन. दारूवाला (अंग्रेज़ी)/ दिलीप चित्रे
- अरुण कोलहटकर (अंग्रेज़ी-मराठी)/ दिलीप चित्रे
- आलोकरंजन दास गुप्त (बाङ्ला)/ सुरंजन रे
- सौरव कुमार चालिहा (असमिया)/ अल्ताफ़ माजिद
- निरेंद्रनाथ चक्रवर्ती (बाङ्ला)/ अमिय चट्टोपाध्याय
- जे.पी. दास (ओड़िया)/ ए.के. बीर
- सानू लामा (नेपाली)/ सुदेश लोटलीकर
- नीला पद्मनाभन (तमिल-मलयालम)/ वी. गौतमन्
- रस्किन बॉण्ड (अंग्रेज़ी)/ ओबैद सिद्दीक़ी
- अय्यप्पा पणिक्कर (मलयालम)/ के. राजगोपाल
- कमलेश्वर (हिंदी)/ सतीश गर्ग
- कर्तार सिंह दुग्गल (पंजाबी)/ गुलबहार सिंह
- कमला दास (मलयालम और अंग्रेज़ी)/ सुरेश कोहली
- इंदिरा गोस्वामी (असमिया)/ जाह्नु बरुआ

अवधि : 27 मिनट

- गोपाल छोटराय (ओड़िया)/ जुगल देबता



सचिव

साहित्य अकादेमी

विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001

दूरभाष : 23745297, 23364207 फ़ैक्स : 091-11-23364207

ई-मेल : secy@ndb.vsnl.in वैबसाइट : http://www.sahitya-akademi.gov.in

sahityaakademisales@vsnl.net

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 28 अंक 133 : सितंबर-अक्तूबर 2007

संपादक
अरुण प्रकाश



समकालीन भारतीय साहित्य
साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य : वर्ष 28: अंक 133 (सितंबर-अक्तूबर 2007)

उप-संपादक : मधुमालती जैन

आवरण चित्र : भ. मा. पारसवाले : स्वयं शिक्षित चित्रकार। महाराष्ट्र के हिंगोली में रहते हैं।

रेखांकन : विज्ञानव्रत : जाने-माने कवि, चित्रकार। दिल्ली में रहते हैं।

: अमित कल्ला : स्वयं शिक्षित चित्रकार। जयपुर में रहते हैं।

: योगेंद्र कांडपाल : स्वयं शिक्षित चित्रकार। उत्तराखंड में रहते हैं।

सज्जा : दिलीप कुमार टेलर : देश-विदेश में प्रकाशनों तथा व्यापार प्रदर्शनियों के सुप्रसिद्ध डिज़ाइनर, चित्रकार। दिल्ली में रहते हैं।

संपादकीय कार्यालय :

साहित्य अकादेमी

रवींद्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली-110001

फ़ोन : 2307 3312 (सीधा नंबर), 23386626, 23386627, (पी.बी. एक्स) विस्तार 207/255

तार : साहित्यकार; फ़ैक्स : 091-11-23382428

E-mail : secy@ndb.vsnl.net.in

Visit our Website at : http://www.sahitya-akademi.gov.in

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

मूल्य : 25 रुपए शुल्क-दर : एक वर्ष (6अंक) 125 रुपए : तीन वर्ष (18अंक) 350 रुपए

विदेश में :

हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/6 ब्रिटिश पाउंड एक वर्ष 50 डॉलर/30 पाउंड : तीन वर्ष 135 डॉलर/85 पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड एक वर्ष 25 डॉलर/15 पाउंड : तीन वर्ष 70 डॉलर/44 पाउंड

शुल्क 'सचिव, साहित्य अकादेमी' के नाम पर भेजें।

वितरण : उप-सचिव (विक्रय), साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001

फ़ोन : 011-23364207, 23745297

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:

A Bi-monthly journal of Indian literature from 24 languages, in Hindi, published by Sahitya Akademi, Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road, New Delhi-110001, India



आमुख

साहित्य में आलोचना या सृजन की नई अवधारणा आती है और किसी दृश्यमान, वर्चस्वशाली कला जगत में अपना ली जाती है, संचार माध्यमों में उसका गुणगान होने लगता है, उस पर चर्चा होने लगती है, उत्सुकंता का चरम आता है, उत्ताल तरंगें उठती हैं तब नई अवधारणा फ़ैशन बन जाती है। साहित्य में इसे ही लिटरेरी फ़ैड्स कहते हैं। रचनाकार उस ओर लपक पड़ते हैं ताकि कोई उन्हें पिछड़ा न समझ ले। वर्चस्वशाली कला जगत के मूल उद्गम में वह साहित्यिक चलन ख़त्म हो गया तो बौद्धिक सिंचाई का स्रोत सूख जाता है और स्थानीय साहित्यिक आंदोलन भी सूख जाता है क्योंकि यह आंदोलन साहित्यिक अवधारणा और लोक मान्यता में कोई परिवर्तन लाने में असफल रहा। अवधारणा और निदर्श (पाराडाईम) या कहें मॉडेल का बदलना ज़रूरी है तभी साहित्यिक आंदोलन अपेक्षाकृत टिकाऊ हो सकता है।

साहित्यिक फ़ैशन और निदर्श-परिवर्तन (पाराडाईम शिफ़्ट) दोनों में नयापन है परंतु दोनों में मूलभूत अंतर है। फ़ैशन का नयापन तात्कालिक प्रभाव छोड़ता है, पुरानी मनोवृत्ति को स्थगित कर कुछ अवधि के लिए नया फ़ैशन उत्सुकतावश सामयिक होने के लिए अपनाता है जबकि निदर्श-परिवर्तन दीर्घ अवधि के लिए होता है और प्रायः वह उलट पाँव यात्रा भी नहीं करता।

चौथे दशक में भारतीय स्त्री क़ानून का अध्ययन कर सकती थी लेकिन वक़ालत नहीं कर सकती थी। यू.पी. एडवोकेट्स उसे वकालत के योग्य नहीं मानता था। लोकमान्यता भी स्त्री के विरुद्ध थी। स्त्रियों ने आवाज़ उठाई। जवाहरलाल नेहरू ने समर्थन दिया। लोक मान्यता बदलने लगी। संयुक्त प्रांत (आज का यू.पी.—तब युनाइटेड प्रोविंस था) की सरकार ने क़ानून बदला। महिला वकीलों को वैधता मिली, लोकमान्यता मिली। भले ही प्रतीकात्मक हो, आज की पदावली कहें तो पाराडाईम शिफ़्ट हुआ। निदर्श थोड़ा बदला तो स्त्री वकील बनी।

आज स्त्री-विमर्श प्रतिष्ठित है। लेकिन कभी ऐसा नहीं भी था। हिंदी गद्य के आरंभिक व्याख्याता जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक *हिंदी गद्य शैली का विकास* में पांडेय बेचन शर्मा की किसी कृति से एक उद्धरण दिया है, उसे याद करने का यह उपयुक्त अवसर है : "इस मुल्क की आँखों पर आपका 'रिमार्क' एक ही रहा। अपनी 'औरत' की गुस्ताख़ी माफ़ कीजिएगा, क्या मर्दों के हाथ में औरतों के दिलो-दिमाग़ का, दीनो-दुनिया का, बहिश्तो-दोज़ख़ का ठेका है ? मर्द जिसे कहे औरत उसी को प्यार करे। उसी के गले पड़े। उसी को अपना बनाए। औरतें गंदी हैं, औरतें बेवक़ूफ़ हैं, औरतें ग़ुलाम हैं, औरतें बदतहज़ीब हैं और बेतमीज़ हैं—यानी दुनिया में सबसे अगर ख़राब हैं तो औरतें हैं। फिर, बंदा परवर! आप मर्द लोग, जो अपनी सफ़ाई, अपनी अक्लमंदी, बहादुरी और तहज़ीब के लिए मशहूर हैं, औरतों को नेस्तनाबूद क्यों नहीं कर देते ? दुनिया (अमेरिका, जापान, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, चीन, तुर्की) औरतों को आज़ादी दे रही है। हुज़ूर के मुल्क के मर्दों को चाहिए कि दुनिया के ख़िलाफ़ बग़ावत करें। औरतों को जेल में रखें। खाना न दें, सुनने न दें, प्यार करने न दें और पढ़ने-लिखने तो ज़रूर न दें। अगर आपके मुल्क को बाग़े-अदन और मर्दों को ख़ुदा

कहा जाए तो बुरा न होगा। आप लोग हम औरतों को समझा दीजिए कि इल्म की 'फ़ॉरबिडन ट्री' है जिसका फल खाने की आज्ञा नहीं। लेकिन 'उग्र' जी को तब समय से आगे, बहका हुआ माना जाता था।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में भी स्त्रियाँ हिंदी में लिख रही थीं। परंतु एक तो वे राजपरिवारों से आती थीं, दूसरे उनकी चिंता के केंद्र में स्त्री-अस्मिता नहीं, शृंगार या मोक्ष था। सुमन राजे द्वारा संपादित *बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध और हिंदी* के हवाले से देखें तो पहली बार श्रीमती राजरानी देवी (जन्म 1870) के यहाँ अस्मिता चिंता प्रकट होती है :

देवियो! क्या पतन अपना देखकर,
नेत्र से आँसू निकलते हैं नहीं?
भाग्यहीना क्या स्वयं को लेखकर
पाप से कलुषित हृदय जलते नहीं?

एक और कवयित्री तोरन देवी शुक्ल 'लली' (जन्म 1896) ने और साफ़गोई से लिखा है :

कहो बंधु अब क्या कहते हो?
कब तक मुक्त करोगे?
इस घूँघट की कड़ियों से।

इन दिनों महादेवी वर्मा की जन्म शताब्दी के सिलसिले में उनकी गद्य रचनाओं—विशेषकर *शृंखला की कड़ियाँ*—को स्त्रीवादी परिप्रेक्ष्य में पढ़ा जा रहा है। लेकिन *आज का भारतीय साहित्य* में आधुनिकतावादी अज्ञेय ने हिंदी साहित्य के अपने सर्वेक्षण में महादेवी वर्मा के इस महत्त्वपूर्ण लेखन का ज़िक्र तक करना मुनासिब नहीं समझा। ज़िक्र तो उनका छायावाद के संदर्भ में भी नहीं किया गया। अलबत्ता एक अन्य महत्त्वपूर्ण कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान का ज़िक्र स्त्रीवादी संदर्भ में नहीं, बल्कि यूँ किया गया :

''सुभद्रा कुमारी चौहान (1904-1948) की ओज भरी राष्ट्रीय कविताएँ और गृहस्थ जीवन की सहज, सरल, स्नेहभरी अंतरंग झाँकियाँ उन्हें इस काल के कवियों में एक अद्वितीय स्थान देती हैं। उनकी कविताओं में भी यह गुण तो है लेकिन अपनी भावना के प्रति वह तटस्थता नहीं है जो उसे महत्ता प्रदान करती। सुभद्रा कुमारी चौहान की भारतीयता उनके काव्य की ओजस्विता में प्रकट हुई तो होमवती की भारतीयता उनकी कहानियों की व्यंग्यात्मकता में।''

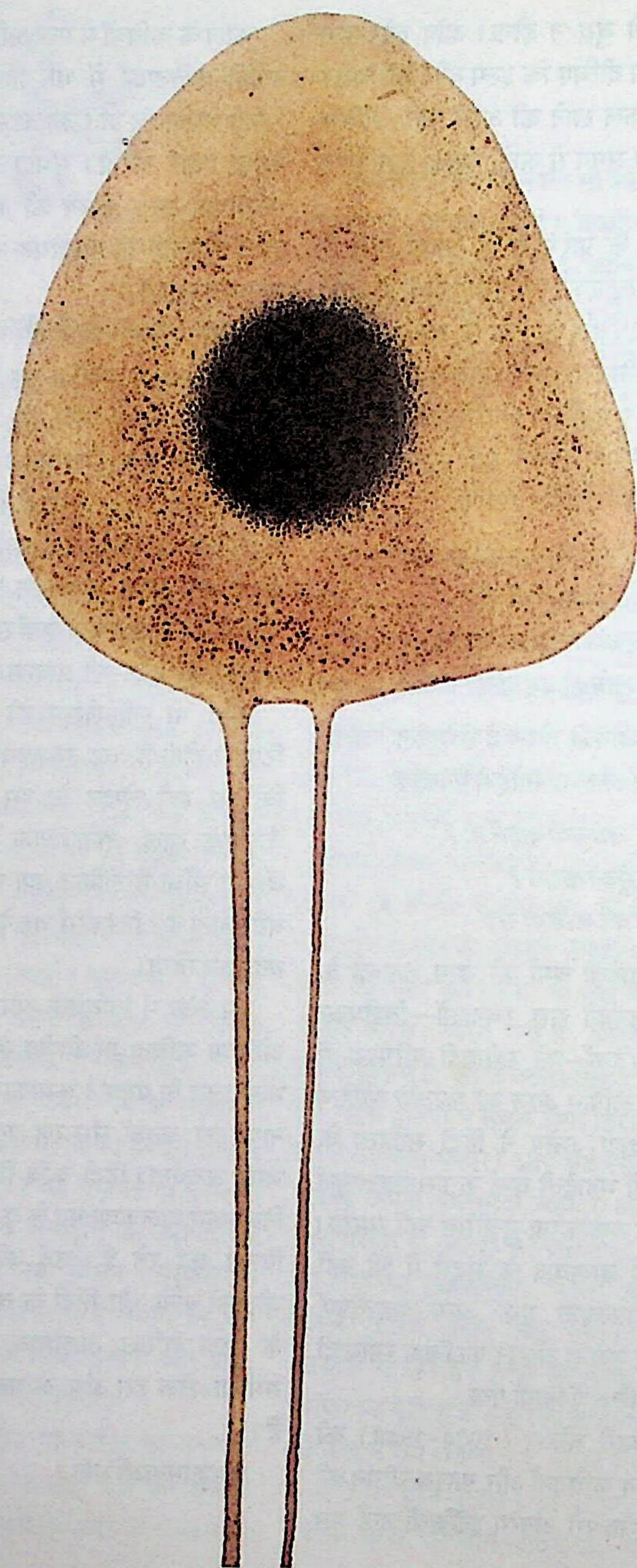
निदर्श-परिवर्तन आम तौर पर विकासमान और धीमी प्रक्रिया है क्योंकि यह बौद्धिक, वैचारिक सहमति पर टिका होता है। इसमें भावना का, आंदोलन का खेल कम होता है। वस्तुतः यह वाद-विवाद-संवाद का परिणाम होती है। 'लली' के दौर में कवियों के यहाँ भी निदर्श पुराना रहा होगा, पुरानी और पुरुष दृष्टिकोण को आत्मसात कर चुकी गिनी-चुनी कवयित्रियाँ रही होंगी। ज़ाहिर है, अस्मिता की क्षीण-सी आवाज़ कौन सुनता?

अभी भी स्त्री-लेखन को लेकर जो टीका-टिप्पणी होती है, वह उत्साहवर्द्धक नहीं है। माना कि इस स्त्री-लेखन के इस शुरुआती दौर में वैचारिक झोल, अनावश्यक क्रोध और बँधा-बँधाया साँचा है लेकिन क्या परिमार्जन प्रारंभ के बग़ैर होता है? डिस्कोर्स चलने दीजिए, पाराडाईम बदलकर रहेगा।

इस अंक में विविधता और गुणवत्ता से समृद्ध ओड़िया कविता पर विशेष आयोजन प्रस्तुत है। मलयालम के प्रख्यात कथाकार एम.टी. वासुदेवन नायर का अनूठा संस्मरण पाठकों की स्मृति में जगह बनाएगा। हिंदी कवि दिविक रमेश बेजोड़ निबंधकार बालकृष्ण भट्ट के कृतित्व पर नए सिरे से विचार कर रहे हैं। उर्दू की वरिष्ठ कथाकार जीलानी बानो और हिंदी के वरिष्ठ गीतकार नईम के साथ वरिष्ठ आलोचक राजेंद्र कुमार का समीक्षा-लेख इस अंक के महत्त्व को बढ़ाने वाले हैं।

शुभकामनाओं सहित,

—अरुण प्रकाश



एम.टी. वासुदेवन नायर

मृत्यु : पड़ोसी दोस्त

"अगर कोई भी कहानी पूर्णतः कही गई हो, तो वह मृत्यु पर ही समाप्त हो जाती है। जो मृत्यु को अलग करके कहानी कहता है, वह कहानीकार नहीं होगा।" यह हेमिंग्वे का कथन है। *डेथ इन द आफ़्टरनून* का यह वाक्य मैंने इससे पहले भी उद्धृत किया है। कहानी जो भी हो, किसी पड़ाव पर आकर हम उसे बंद कर देते हैं। अगर उसे फिर आगे ले जाते तो वह मृत्यु पर ही समाप्त हो जाती। अकसर होता यह है कि हमारा पुराना कहानी-संकेत 'फिर वे ख़ुशी से रहने लगे' के साथ ख़त्म हो जाता है। 'ख़ुशी से रहने' के बाद फिर से कहानी को आगे बढ़ाया जाए तो कोई मर जाता है। फिर कभी दूसरा व्यक्ति भी मर जाता है। मृत्यु तो हमारा एक शाश्वत मुद्दा है। कँपाने वाली मृत्यु होती है। बुढ़ापे में जो लोग मरते हैं, उनकी मृत्यु स्वाभाविक है। हमें मालूम है कि आज नहीं तो कल वह घटित होगी ही। उसकी मृत्यु का हम इंतज़ार करते हैं। पर इनमें कोई भी मृत्यु हमें झकझोरती नहीं है। जैसे ऋतुएँ बदलती हैं, वैसे ही ज़िंदगी में घटित होती मामूली घटना मात्र हैं वह। वसंत आता है, ग्रीष्म आ जाता है, वर्षा होती है—वैसे ही मृत्यु भी आ जाती है।

मलयालम साहित्य में मुझे झकझोरने वाला मृत्यु का एक दृश्य याद है। मलयाट्टूर रामकृष्णन के उपन्यास *जड़ें* में रघु की मृत्यु। पागल कुत्ते के काटने पर पागल होकर उसके मरने का दृश्य। जब मैं उसे पढ़ रहा था तो मुझे उसकी मृत्यु ने एकदम कँपा दिया था। ऐसे हालात हमें सचमुच डरा देते हैं। दूसरे प्रकार की मृत्यु अकसर हम पर स्वाभाविक प्रतिक्रिया ही डालती है। जैसे हम ज़िंदगी का खेल खेलते हैं, उसकी दूसरी तरफ़ हम मृत्यु का खेल भी खेलते हैं।

मैंने 'मृत्यु' शीर्षक एक कहानी लिखी है। उसमें एक युवक है। कोई एक युवक। वह कुछ करता नहीं था। दिन यूँ ही व्यर्थ चला जाता। एक रोज़ वह रेल की पटरियों से गुज़रता है। तब पटरियों की दूसरी तरफ़ रोशनी और छोटी-सी भीड़ दिखती है। मृत्यु वाला घर था। वहाँ लोग काफ़ी संख्या में नहीं थे। एक औरत चल बसी थी। पतिनुमा एक इनसान लाश के पास बैठा था। शायद वह किसी की राह देख रहा था। युवक को लगा कि इस हालत में उसका साथ दिया जाना चाहिए।

ज्ञानपीठ पुरस्कार, साहित्य अकादेमी, केरल साहित्य अकादमी सहित अनेक संस्थानों से पुरस्कृत एम.टी. वासुदेवन नायर का जन्म 1933 में हुआ। उपन्यास एवं कहानी की लगभग 25 पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : सितारा, कोट्टारम रोड, कालीकट 673006(केरल)

अनु. हिंदी मलयालम अनुवादक वी.डी. कृष्णन् नंपियार का जन्म 1940 में हुआ। साहित्य अकादेमी, केरल साहित्य अकादमी, हिंदी निदेशालय सहित कई संस्थानों से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 'गरषोम', 161, 18वाँ क्रॉस, एच. एस. आर. ले आउट सेक्टर-2, बंगलुरू 560120

किसी काम में हाथ बँटाना चाहिए। तब तो उस दिन की ज़िंदगी का कुछ अर्थ हो जाता। वह ऐसी मानसिक स्थिति में खड़ा था कि इसी बीच पास वाली पटरी से रेलगाड़ी गुज़रती है। जब पत्थरों के बीच से गाड़ी कँपाती हुई गुज़र जाती है, तो उसे एक प्रकार का डरावना आकर्षण हो जाता है। गाड़ी के पहिए एकदम पास से होकर गरजते हुए चले जा रहे थे। उसे क्षणिक निगूढ़ आह्लाद महसूस होता है। जब तेज़ कड़कती हुई रेलगाड़ी अपने पास से गुज़रती है तो किसी बहुत ही अकेले इनसान को क्षण-भर को लगता है कि क्यों न सब कुछ नष्ट कर दे।

'मृत्यु' कहानी की घटनाएँ मेरे अपने जीवन के ही अनुभव थे। बहुत साल पहले की बात है। तब मैं अविवाहित था। किसी छोटी-मोटी नौकरी में लगा हुआ था। कालीकट के एनि हॉल रोड पर किसी लॉज में रहता था। शाम हो जाने पर यूँ ही पैदल चला करता था। वैसे एक दिन पैदल चलते-चलते पन्नियंकरा पहुँच गया था। एक घर पर रोशनी और थोड़ी भीड़ देखी। मैं समझ गया कि किसी की मृत्यु हो गई है। शोर-शराबा तो नहीं था। हाथ बँटाने वाले लोग भी नहीं थे। मैं यूँ ही वहाँ पहुँचा। कोई मुझ पर ध्यान नहीं दे रहा था। धीरे-धीरे मैं वहाँ का सहायक हो गया।

मेंबर ऑफ़ द वेडिंग शीर्षक एक उपन्यास है। कार्सन पेलक्कलेर्स था। दस-बारह साल की लड़की इसका प्रधान पात्र है। उसका बाप चल बसा। बड़ा भाई किसी दूसरे शहर में नौकरी कर रहा था। एक रोज़ भाई की शादी तय हो गई, उससे लड़की के एकांत का तात्कालिक शमन हो गया। वह शादी की रस्मों की भागीदार बन रही थी—मेंबर ऑफ़ द वेडिंग। मेंबर बनने का अर्थ है—अच्छे कपड़े पहनकर दुल्हन के साथ जाना। अच्छा खाना खाना आदि। ऐसा मेंबर बन जाने पर उसके जीवन की सारी निरर्थकता दूर हो जाती है। किसी के लिए ज़िंदा रहने की उसमें इच्छा जाग जाती है।

हममें तब कुछ ज़िम्मेदारियाँ आ जाती हैं, जब हम दूसरों को सूचना नहीं देते कि हम कौन हैं और क्या हैं। उस ज़िम्मेदारी को ठीक से निभा भी सकते हैं। जब हम उसे पूरी करके लौटने लगते हैं तो अगर कोई यह पूछ ले कि 'आख़िर तुम हो कौन ?' 'कोई नहीं', 'कोई नहीं' का जवाब देते हुए हम लौट जाते हैं तो उससे एक ख़ास प्रकार की ख़ुशी होती है।

'वे' शीर्षक कहानी में एक अधेड़ व्यक्ति कई वर्ष बाद अपने परिचित शहर में आ रहा था। जब वह शहर पहुँचा तो बिजली गुल हो गई। थोड़ी देर बाद वह लौटी। तब उसे ख़ुशी होती है कि शहर ने उसे पहचाना है। काफ़ी सालों के बाद भी शहर के कुछ मोहल्ले और कुछ प्रकरण उसे पहचानते हुए वैसे ही खड़े हैं। वह एक होटल में कमरा लेता है। पास वाले कमरे में युवकों के हँसी-ठहाके और ज़ोर-ज़ोर की बातचीत की आवाज़ आ रही थी। वह समझता है कि शराब का दौर चल रहा है। जो उसने जिया, वही ज़िंदगी है। नई पीढ़ी को जीवन का वैसा परिचय नहीं है। उम्र में बड़ों की वैसी नाराज़गी उसे थी। दूसरे दिन उसे पता चलता है कि पासवाले कमरे में एक युवक ने ख़ुदकुशी कर ली है। पिछली रात वह उस युवक पर नाराज़ हो गया, जो कि ज़हर की उल्टी कर रहा था। चीख़ रहा था और मृत्यु का डर दिखा रहा था।

अधेड़ उम्र का यह आदमी भी आख़िर एक मानसिक दशा के इंतज़ार में रहता है। वह भी एकाकी जीवन बिता रहा है। उसके अंदर भी व्यर्थता-बोध है। 'मृत्यु' कहानी के युवक और 'वे' कहानी के अधेड़ व्यक्ति के नाम नहीं हैं। दोनों के मानसिक व्यवहार में समानता है। वह युवक कुछ साल बाद ही दूसरे व्यक्ति की

मानसिकता में पहुँच जाता है। ये दोनों पात्र मेरे कालीकट-जीवन के प्रथम चरण के हिस्से थे।

II

जो मृत्यु के इंतज़ार में रहते हैं, उन्हीं की मृत्यु पर मैंने अधिक लिखा है। वहाँ वे आँसू नहीं होते जो अन्यत्र लगातार गिरते रहते हैं। प्रथम चरण में एक चीख़ होती। उसके बाद सभी ख़ामोश हो जाते।

एक ऐसे बेटे का उल्लेख 'विलाप-यात्रा' में है, जो इस हक़ीक़त से राहत महसूस करता है कि अपने घर पहुँचने के पहले पिता जी का देहांत हो गया था। मृत्यु के ठीक पहले के कुछ क्षणों का भागीदार होना और मृत्यु को अपनी आँखों से देखते रहना—यह दोनों राहत दिलाने वाली बातें नहीं हैं। मेरी माँ या बाप के आख़िरी क्षणों का मैं प्रत्यक्षदर्शी नहीं था। जब मैं छोटा था, तब मौसी के पति की मृत्यु को देखा था। मेरे मन में वे दृश्य अभी भी ताज़ा हैं, जो मृत्यु के ठीक पहले मरने वाले के चेहरे पर दिखाई देते हैं।

पिता जी की मृत्यु की ख़बर पाकर जब मैं घर पहुँचा था, तो वहाँ श्मशान-भूमि की तैयारी हो चुकी थी। आम का पेड़ कट गया, उसकी तीलियाँ तैयार हो गईं। उसके बीच लोग हँसी-मज़ाक़ कर रहे थे। ठहाके मारकर हँस रहे थे। एक लकड़ी काटने का नेतृत्व कर रहा था, दूसरा व्यक्ति, उससे मज़ाक़ कर रहा था, "तुम्हारा समय भी आ रहा है।" ऐसे हँसी-मज़ाक़ों को सुनते हुए मैं खड़ा था। मृत्यु वैसी है। ज़िंदगी का ही एक दूसरा नाटक है वह। ज़िंदगी का नाटक तभी पूरा हो जाता है, जब उसमें मृत्यु का नाटक मिल जाता है। जन्म के समय ऐसा कोई नाटक होता नहीं है। पर मृत्यु एक जलसा है। तमिलनाडु में जब कोई झुग्गी-झोंपड़ी वाला मर जाता, तब लोग बाजा बजाते, गाना गाते और पटाखा फोड़ते हुए श्मशान तक लाश के पीछे-पीछे जाते हैं। अगर एकदम अनजाना व्यक्ति है, तो मरनेवाले का नाम किसी से पूछकर कहते, "मेरे श्रीनिवास, तू हमें छोड़ क्यों गया?" और श्मशान तक जाते। एम. बी. श्रीनिवास (प्रसिद्ध संगीत-निर्देशक) की अंत्येष्टि के समय मैंने ऐसा दृश्य देखा था। ऐसे दृश्य हमारे यहाँ गाँवों में नहीं होते। पर उससे मिलते-जुलते कुछ अनुष्ठान होते हैं। कौन-सा आम का पेड़ काटा जाए—विचार किया जाता। "वह आम का पेड़ पका नहीं है। कुछ समय और उससे फल मिलेगा। इसलिए उसे छोड़ इसे काटो।" ऐसी चर्चा होती।

III

जीवन और मृत्यु का मंद मुस्कान के साथ सामना करने वाले हैं अम्मालु और कुरुप। हमारे गाँव में ऐसे भी कुछ लोग ज़िंदा हैं। इसे समझने की एक छोटी-सी कोशिश थी मेरी फ़िल्म 'एक मंद मुस्कान'। जब विदेशों में यह फ़िल्म दिखाई गई तो मैंने वहाँ जाकर कहा कि यह एक प्रतिक्रियावादी फ़िल्म है। शादी के बाद पैंतालीस साल साथ रहने के बाद भी पत्नी को पति से और पति को पत्नी से प्रेम है—यह हमारे इस ज़माने में एक प्रकार का प्रतिक्रियावादी विचार है। जब मैंने ऐसा कहा तो सब लोग हँस पड़े। उस पति-पत्नी के खेल छोटे बच्चों जैसे हैं। सीढ़ियों से छत पर चढ़ना, फिर सीढ़ी उठाकर अलग रखना—ऐसे वैसे तमाशे। कुरुप जी को तीन बातों में दिलचस्पी है। पत्नी से लगाव, अपने पौधों से लगाव, फिर खाने-पीने का शौक़। दावत में उन्होंने ख़ूब खाया। दावत की तैयारी में ख़ूब मेहनत की। फिर जैसे कोई बत्ती बुझ जाती है, वैसे वह बुझ जाते। बस वही कुरुप की मृत्यु थी। कोई भी चाहेगा कि ऐसी मृत्यु प्राप्त हो जाए। हमें लगेगा कि उनकी पत्नी ने भी ऐसी मृत्यु की इच्छा की होगी। कुरुप जी एक मंद मुस्कान से मृत्यु का स्वागत करते हैं। अम्मालु भी उसी प्रकार की मंद मुस्कान से उनकी मृत्यु

का सामना करती है। बुढ़ापे के कुछ अपूर्व कौतुक और एक शांत मृत्यु। श्रीरमणा की तेलुगु कहानी 'मिथुनम्' में मैंने ऐसा ही कुछ पाया था। ऐसे हँसी-खेल वाले पति-पत्नी को मैंने अपने जीवन में कहीं नहीं देखा था। मेरी कहानियों में ऐसे पात्र नहीं होते। बेहद ख़ुशी या भरपेट खाना मेरे पात्रों को मयस्सर नहीं होता। मेरी अपनी ही ग़रीबी और अपने इर्द-गिर्द हुई मृत्यु पर ही मैंने लिखा है।

मेरे उपन्यास *वाराणसी* की पृष्ठभूमि पूर्णतः मृत्यु ही है। लोगों का विश्वास है, सुखद मृत्यु के लिए हमें काशी जाना है। सबसे ख़राब मृत्यु भी वहाँ घटित होती है। जब हम काशी की तंग गलियों से होकर चलते तो लाशों से टकराकर ही आगे बढ़ते। किसी को किसी प्रकार की घृणा नहीं होती। वाराणसी का अस्तित्व ही लाशों पर आधारित होता है। मृतकों के सहारे ही ज़िंदा लोग वहाँ रहते हैं। व्यापार की दुकानें मृत्यु के इंतज़ार में चलती हैं। कपड़े की दुकानें, चाय की दुकानें, लकड़ी की दुकानें, लॉज, पंडे, सब मृत्यु पर निर्भर करते हैं। जब गंगा जी में पानी चढ़ जाता है, तो नदी किनारे बनाए गए ऊँचे प्लेटफ़ॉर्म पर क्रिया-कर्म होते हैं। एक दिन दोपहर के समय मैं उस पर चढ़ गया। तब लाशें जल रही थीं, और वहाँ आठ बरस का कोई लड़का पतंग उड़ा रहा था। जलती लाशें और उसकी बदबू कुछ भी उसे बाधक नहीं होती। यही काशी में इनसान एवं मृत्यु का संबंध है। मृत्यु जैसा आख़िरी पड़ाव कभी बीभत्स, कभी सुंदर—कैसा भी हो सकता है।

अगर मृत्यु के उपरांत हमारा बलि-कर्म करने वाला कोई नहीं होता, तो हम स्वयं उसे कर सकते हैं। वाराणसी में ऐसा भी एक कर्म है। संन्यास में ऐसा होता है। बिना संन्यास के भी ऐसा करनेवाले हैं। वे सभी प्रकार की आसक्तियों को मिटा देते हैं, फिर ऐसी कशमकश नहीं होती कि जीव कहाँ जाता है और शरीर का क्या होता है। घूमते-फिरते कहीं मृत्यु हो जाए तो ऐसा कोई डर नहीं होता कि राख कहाँ-कहाँ भटकेगी। आत्मबलि की ऐसी सुविधा होती है। काशी में उसका एक व्यापारिक स्तर भी होता है। सुधाकर अपने पिंड स्वयं देता है। आगे वह अपनी यात्रा जारी रख सकता है। चाहे तो उसे समाप्त भी कर सकता है।

IV

कोई अपनी मृत्यु का अपने साथियों के साथ इंतज़ार करता है। इसके विपरीत अगर वह मृत्यु से बचता है, तो उस व्यक्ति की आगे की हालत कुछ और ही होती है। मृत्यु से बचकर जो आता है, वह उससे पहले वाले फाँस से कहीं बड़े फाँस में लौट आता है। यही मेरी फ़िल्म 'सुकृतम्' की कथावस्तु है। मैं अख़बार के दफ़्तर में काम कर रहा था। अगर कोई नामी व्यक्ति मृत्यु-शय्या पर पड़ा हो, तो उसकी सूचना मिलते ही दफ़्तर में उन पर तेज़ी से काम शुरू हो जाता है। मरणासन्न सज्जन का फ़ोटो ढूँढ़ना, उस पर श्रद्धांजलि स्वरूप स्मृति-चित्र लिखने वाले को ढूँढ़ निकालना होता है, मृत्यु की ख़बर की ख़ास तैयारी करनी होती है। ऐसे कुछ स्मृति-चित्रों के लिए मुझसे कहा गया। मैंने कभी उसको प्रोत्साहन नहीं दिया है। मैं ऐसे लेख लिख नहीं पाता। यह कल्पना करके कि अमुक सज्जन चल बसे हैं। पत्र-कार्यालयों में ऐसे लोग होते हैं, जो वैसे लेख तैयार करके रखते हैं। वैक्कम मुहम्मद बशीर के अंतिम दिनों में, जब यह तय था कि वे चल बसेंगे, कुछ अख़बार वालों ने मुझसे उन पर लिखने का आग्रह किया। मैं ज़िंदा बशीर पर ही लिख सकता था। यूँ तो मृत्यु-शय्या पर पड़े उन्हें मैंने देखा था। तब भी नम्रता का भाव उनके चेहरे से ग़ायब नहीं हुआ था। अडूर भासी (फ़िल्म अभिनेता) ने अंतिम घड़ी में भी अपनी नम्रता छोड़ी नहीं थी। घोर पीड़ा के समय भी हँस पाना, अपनी मृत्यु को हँसी-मज़ाक़ से वरण

करना—यह सिद्धि बहुत कम लोगों को ही प्राप्त होती है।

जब एस. के. पोट्टेक्काट्ट (मलयालम लेखक) की लाश टाउन हॉल में अंतिम दर्शन के लिए रखी गई थी, तो बड़ी भीड़ लगी थी। ऐसी भीड़ किसी की अंतिम-यात्रा में मैंने कभी नहीं देखी है। जब लाश को वहाँ से बाहर लाया गया, तब ख़ाली स्टेज पर जाकर मैंने देखा। लाश पर रखे फूल-गुच्छे और माला नीचे गिरे हुए थे। उसके बीच थी एक सूनी जगह।

उस दृश्य ने मुझे काफ़ी आकर्षित किया था—जैसे छोटे बच्चों की खींची आकृति हो। श्मशान यात्रा की सभी रस्में पूरी हो गईं। जहाँ लाश को लिटाया गया था, वहाँ एक इनसानी आकार बना हुआ था। स्टेज के सूनेपन में कोई औरत आराधना-भाव से देख रही थी। इसी अनुभव ने 'अक्षर' फ़िल्म को जन्म दिया था।



V

कोहरा उपन्यासिका में एक मुख्य पात्र कोहरा ही है। किसी देश और वहाँ के जन-जीवन की पृष्ठभूमि है उसकी। शिशिर का मौसम। जब बर्फ़ छँट जाती है, तो उसकी अंतिम बूँदें और परतें एक और अनुभव प्रदान करती हैं। कल के आँसुओं की नदी की तरह वह हमारे मन में समा जाती। कोहरा छटपटाती मृत्यु की याद दिलाता। विमला का इंतज़ार। नाववाले का इंतज़ार, बुछु का इंतज़ार, प्रकृति का इंतज़ार—सब किन्हीं सैलानियों के लिए है। उन सबको इंतज़ार है कि कोई आ जाएगा। ऐसा भी हो सकता है कि जिसका इंतज़ार किया जाता है, वैसा कुछ नहीं होता। यह एक बेकार विचार मात्र है। यह भी उन्हें पता है। मैंने *कोहरा* में इंतज़ार और सपनों की मृत्यु को ही प्रस्तुत करने की कोशिश की है।

कालम् उपन्यास के आख़िर में सेतु बालों की जटाधारी सुमित्रा को देखता है। शुरू की सुमित्रा बेहद ख़ूबसूरत लड़की थी। जब इनसान अपने आप पर ध्यान नहीं दे पाता, तभी उसमें ऐसा बदलाव आता है। उपन्यास के शुरू में सेतु की कम-से-कम कविता में रुचि थी। अब किसी में भी नहीं है। नदी की भी यही हालत है। जब इस पार आया था तब की नदी और थी। वह सूख गई थी एकदम। उसका मन जैसे सूख गया था। उसकी अच्छाई, सपने, काव्य-कल्पना सब मर चुके थे। सूखी नदी में, नदी की मृत्यु में ही मैंने उपन्यास को समाप्त किया था।

साहित्यिक कृतियों में जो हैं, वे केवल पात्र हैं। यथार्थ जीवन की अवस्था पात्रों की कल्पना के अनुसार हो, यह जरूरी नहीं। यथार्थ से समरस हो जाने की उनकी विफलता के रूप में पाठकों के सामने पुस्तक पहुँचती है। दोनों अवस्थाओं को समरस बनाने की विषमता और दोनों के बीच का संघर्ष—यही दुनिया की कई साहित्यिक कृतियों में पाठकों को आकर्षित करने वाला

मुख्य अंश होगा। आशाओं और कल्पनाओं की मृत्यु होती है। उसे जीतने की कोशिश ही जीवन-भर हम किया करते हैं।

असुरबीज उपन्यास में गोविंदन कुट्टी लौटने की कोशिश करनेवाला पात्र है। जाए तो भी कहाँ तक जाएगा? सबके अंदर लौट आने की इच्छा रहती है। प्रायः उसमें विफलता हासिल होती है, फिर भी हर इनसान अवसर प्राप्त होने पर अपने अड्डे पर लौटने की सोचता है। अपनी किशोरावस्था की ओर लौटता है। बचपन की ओर लौटता है, शैशव की ओर लौटता है। यथासंभव स्मृतियों में खो जाता है। फिर मृत्यु की तरफ़ भी। पीछे की तरफ़ दौड़ते-दौड़ते वह कहाँ जाकर छिपेगा—यह समस्या है। वैसे भागते-भागते वह आख़िर वहीं पहुँचता है, जहाँ से निकला था। गर्भपात्र की ओर। यह एक प्रकार से अस्तित्वहीनता की-सी हालत है। फिर भी इस लौटने में ही वह कुछ-न-कुछ संतुष्टि पाता है। आगे जाने की असंतुष्टि या डर या उत्कंठा यहाँ नहीं है।

VI

विश्वास की मृत्यु का चित्रण करने की मैंने 'निर्माल्यम्' फ़िल्म में कोशिश की है। गाँव का विश्वास है कि देवी हमें बचाएगी। जीवन-भर देवी के लिए समर्पित व्यक्तित्व था मंदिर के कर्मचारी का। भगवान के विश्वास पर, भक्ति से जीना, अपने प्रारब्धों की भक्ति द्वारा ही मुक्ति पाने का विश्वास करना। पर कर्मचारी इसमें सफल नहीं होता। पारिवारिक जीवन भी उसे आघात पहुँचाता है। देवी के प्रति डर और श्रद्धा, जैसा ही उसके प्रति बदले की भावना भी एक अवसर पर उसे हो जाती है। उस बदले की भावना से एक बार वह देवी की मूर्ति पर थूकता है—यह बात नहीं। देवी पर अगाध लगाव के कारण उसी पर थूकता है। मूर्ति पर थूकने से देवी पर विश्वास, जीवन पर विश्वास सब कुछ नष्ट हो जाता है। वह स्वयं की बलि देता है। यहाँ किसी इनसान की आत्महत्या नहीं, आत्मबलि है।

जुए का खेल पुराने ग्राम-जीवन के विनोद का मुख्य अंश था। खेल के बीच कभी-कभी खिलाड़ी देवी की निंदा करते। अगर मोहरें ठीक से गिरती नहीं, तो ग़लती देवी की होती, "इन सारे वर्षों में मैंने इस 'पिशाचिनी' की क्यों सेवा



की?" यों छाती पीटकर रोनेवालों को मैंने देखा है। यह 'पिशाचिनी' देवी है। मेरे एक मामा ऐसे जुआरी थे। देवी की बात करते हुए एक और सज्जन मेरी स्मृति में आ जाते—वह हैं पद्मनाभ जी। ये मेरी एक कहानी और एक फ़िल्म के पात्र हो गए थे। मृत्यु-शय्या पर पड़े लोगों की सेवा-शुश्रूषा और मृतकों की देख-भाल—यही उनका काम था। लोगों को वे मरने देते थे। और उस समय वे शराब की दुकान और अन्य दुकानों की पटरियों पर रहते। सब लोगों को अंतिम वेला में पद्मनाभ जी की ज़रूरत होती। पर गाँव में उनका कोई मूल्य नहीं था।

कुछ साल पहले दिन के समय हम उस गाँव से होते हुए जा रहे थे तो पद्मनाभ जी को देखा। सड़क के किनारे पड़े थे। शराब के नशे में धुत्त। पद्मनाभ जी हमारे लिए तमाशे का विषय थे, हम उन्हें छोड़ आगे बढ़े। शाम को लौटते वक़्त ही पता चला कि वह मरे पड़े थे। इस आदमी ने गाँव के लोगों का मृत्यु के समय साथ दिया था। सभी घरों में एक-न-एक बार वे ज़रूर गए होंगे। जब बीमार पड़े व्यक्ति की साँस रुकने लगती, तो पद्मनाभ जी को बुलाया जाता। फिर मृत्यु एवं अंत्येष्टि उन्हीं की ज़िम्मेवारी होती। अपनी ज़िम्मेवारी के पूरे हो जाने तक वे शराब न पीते। 'पीड़ा में अकेले' फ़िल्म में कुतिरवहम् पप्पु (विख्यात हास्य-अभिनेता) ने जिस किरदार की भूमिका निभाई थी, वह इन्हीं पद्मनाभ जी की थी। 'तुम्हारे अंतिम समय, तुम्हारी मृत्यु में कौन साथ देगा?' एक दूसरा किरदार उनसे पूछता भी है। तब तक किसी ने ऐसा सोचा नहीं होगा! मैंने यह कहानी तब लिखी थी, जब पद्मनाभ जी ज़िंदा थे। उनकी मृत्यु गाँव-भर में एक कॉमिडी थी। एक तरफ़ कॉमिडी और दूसरी तरफ़ उससे बड़ी ट्रैजिडि बनती ऐसी मृत्यु होती हैं। हम सब लोगों ने मिलकर ही, थोड़ी देर बाद ही सही, पद्मनाभ जी की लाश को श्मशान तक पहुँचाया था।

पद्मनाभ जी मेरे रिश्तेदार थे। देवी के मंदिर में मनौती या पूजा करवाने हमारे घरों से उन्हें ही भेजते थे। एक रोज़ पहले ही बता देने पर दूसरे दिन सुबह नहा-धोकर वे आ जाते, पैसे या मनौती की चीज़ें लेकर पद्मनाभ जी मंदिर चले जाते। घंटे-डेढ़ घंटे मोटर-गाड़ी में जाकर ही हम उधर पहुँच पाते, पर वे पौने घंटे में पगडंडियों से होकर वहाँ पहुँच जाते। मंदिर से लौटते एक रोज़ उन्होंने मुझसे कहा, ''वो बुढ़िया बहुत बीमार पड़ी है। वासु, तू एक बार जाकर देख ले! 'बुढ़िया' देवी है!'' पद्मनाभ जी का देवी से पारिवारिक रिश्ता रहा। फिर भी पद्मनाभ जी और अन्य कर्मचारियों की रक्षा देवी-माँ नहीं करतीं। गाँव की भी नहीं। सामान्य जीवन की सीमा के बाहर है उनकी ज़िंदगी एवं मृत्यु।

VII

मैं फ़िलहाल जो उपन्यास लिख रहा हूँ उसमें एक ऐसे इनसान की ज़िंदगी एवं मृत्यु है, जो अकेले रहकर अपनी एक अलग ज़िंदगी और साम्राज्य बना लेता है। वह मेरे गाँव का आदमी है। शादी-शुदा नहीं। उसके छोटे भाई हैं, बहन है। अपनी मेहनत से उसने संपत्ति बनाई। गाँव के सभी नियमों को उसने तोड़ा है। जब अपनी संपत्ति का बँटवारा किया, तो उसकी कड़ी मेहनत का अधिकांश हिस्सा दूसरों को मिल गया। उसे अपने लिए कुछ पथरीली ज़मीन ही मिली। तब वह सत्तर के क़रीब पहुँच गया था। फिर भी उसने वहाँ एक घर बनाया। कुआँ खोदा। जो खोया, उसे फिर से पाया। फिर उसकी मृत्यु भी हो गई। मृत्यु इस उपन्यास का एक मुख्य पात्र है।

मृत्यु हर समय आपके मेरे साथ है। पर मैं ऐसा व्यक्ति नहीं हूँ, जो अपनी मृत्यु पर बेवजह डरता हो। मुझे अस्पताल में दो-तीन बार रहना पड़ा। तब तो मृत्यु आ सकती थी। जो सत्तर पार कर गया हो, उसके निकट वह रहती है। उसे आप हरा नहीं सकते। वर्षा ऋतु में बरसात होती। ग्रीष्म में भी कभी पानी बरसता। ऋतु भेद हमारे नियंत्रण में नहीं है। मानव जीवन की ऋतुओं में एक है मृत्यु। उस पर हमारा कोई अंकुश नहीं हो सकता। उसे अपनी राह जाने दें।

दिविक रमेश

साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है : बालकृष्ण भट्ट

कुछ रचनाकार ऐसे होते हैं जिनकी अवधारणाओं और विचार-दर्शन आदि को ठीक और गहराई से पहचानने और जाँचने के लिए उनके जीवन और व्यक्तित्व की जानकारी ज़रूरी है। आधुनिक हिंदी निबंध, राष्ट्रीय पत्रकारिता और आलोचना के जनक माने गए संपादक, कथाकार, नाटककार, कवि, अनुवादक और समाजसेवी, बालकृष्ण भट्ट ऐसे ही रचनाकार थे। वे विचारों में प्रगतिशील और स्वभाव से निर्भीक तथा स्पष्टवादी थे। संस्कृत, अंग्रेज़ी, अरबी, फ़ारसी आदि अनेक भाषाओं पर उनका अधिकार था। परोपकार और समाजसेवा में उनकी आस्था थी। 32 वर्ष (1877 से 1910) तक उन्होंने *हिंदी-प्रदीप* का संपादन किया और वह भी घोर संकट सहते हुए। लगभग हज़ार निबंधों का सृजन किया। गुण और मात्रा दोनों ही दृष्टियों से उनके निबंध हिंदी साहित्य को सार्थक एवं सफल योगदान सिद्ध हुए। सच तो यह है कि आधुनिक काल के प्रारंभ में ही उन्होंने इस विधा की सशक्त नींव डाली और उसे स्वरूप भी प्रदान किया। राजनीतिक, पौराणिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता नहीं था। उन्होंने साहित्य की अन्य विधाओं मसलन उपन्यास, कहानी और नाटक-प्रहसन के क्षेत्र में भी अनेक उल्लेखनीय रचनाएँ संभव की। *नूतन ब्रह्मचारी* जैसे उपन्यास, 'कौन जीता' और 'सिगरेट वाली' जैसी कहानियों का विशेष रूप से नाम लिया जा सकता है। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण ही इन्हें भारतेंदु हरिश्चंद्र के बाद का सर्वाधिक दीप्तीमान नक्षत्र माना गया है। ऐसे ही रचनाकार अपने समय के लेखकों और लेखन के लिए प्रेरक सिद्ध होते हैं। बालकृष्ण भट्ट ने भी शताधिक रचनाकारों को लिखने की ओर प्रेरित किया। हिंदी की उन्नति के लिए की गई उनकी जैसी अखंड तपस्या अपने समकालीनों में अपवाद कही जाती है। *पं. बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व* नामक शोधग्रंथ में प्रकाशित अपनी भूमिका में बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है: ''श्री सुरेंद्रनाथ देव का कथन है कि यद्यपि लल्लू जी लाल हिंदी गद्य के जन्मदाता थे और भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपनी रचनाओं से उसकी श्रीवृद्धि की थी तथापि उसे

सोवियत भूमि पुरस्कार, हिंदी अकादमी, गिरिजाकुमार माथुर आदि पुरस्कारों से सम्मानित दिविक रमेश का जन्म 1946 में हुआ। कविता, आलोचना, बाल-साहित्य आदि की लगभग 50 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। संपर्क : बी-295, सेक्टर-20, नोएडा-201301
फ़ोन-91120 2546955

सर्वसाधारण के समझने योग्य बनाने में सबसे अधिक उल्लेख योग्य कार्य बालकृष्ण भट्ट ने ही किया था।''

जीवन

डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र ने बालकृष्ण भट्ट का जन्म 3 जून 1843 और देहावसान 20 अगस्त 1914 माना है। लेकिन अन्यत्र (डॉ. मधुकर भट्ट के मतानुसार) शोधपरक पुष्टि के आधार पर उनका जन्म 23 जून 1844 और देहावसान 20 जुलाई 1914 को माना गया है। स्थान अहियापुर मुहल्ला, प्रयाग, इलाहाबाद। वंश गुरु सांदिपनी का। पूर्वजों के यहाँ धन-धान्य का प्राचुर्य था। पिता बेनी प्रसाद भट्ट और माता पार्वती देवी थी। वैद्य और पौरोहित्य के काम के लिए विख्यात नाना अनंतराम मिश्र दुलार से 'फुशुन' पुकारते थे। पिता व्यापारिक रुचि के व्यक्ति थे। बालकृष्ण को भी वे व्यापार में ही लगाना चाहते थे। लेकिन उन पर नाना के संस्कार अधिक थे। माता पार्वती देवी एक पढ़ी-लिखी समझदार महिला थीं। वे बालकृष्ण को संस्कृत पढ़ाती थीं। कुशाग्र बुद्धि बालक ने 12 वर्ष की उम्र में ही *अमरकोष* तथा *लघु सिद्धांत कौमुदी* कंठस्थ कर ली थी। पिता ने बालक को दुकान की ओर खींचने का प्रयत्न जारी रखा। लेकिन दुकान के नाम से ही बालक का दम घुटता था। आख़िर दुकान से बालक भाग आया और फिर कभी न गया। पिता की रुचि के विपरीत माता ने बालक को पाठशाला भेजा। बचपन से ही कथा सुनने, कबूतर पालने और बाग़वानी के शौक़ थे। प्रकृति विनोदी थी। माँ स्वर्ग सिधार गई तो लालन-पालन का भार मौसी पर आ पड़ा जिनके घर की अवस्था अच्छी न थी। इतना तेल तक सुलभ न था कि बालकृष्ण पढ़ पाता। फिर भी अध्ययन चलता रहा। संस्कृत के साथ अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए तो माँ ने ही प्रेरित किया। मिशन स्कूल में इंट्रेंस तक अध्ययन किया। लेकिन माँ की मृत्यु के बाद जैसे आर्थिक कष्ट से घिरे रहना इनकी नियति बन गई थी। कम रुपयों पर नौकरी भी की।

इनके छोटे भाई बालमुकुंद थे। उनकी रुचि व्यापार में थी। अतः पिता के प्रिय बने। इधर इनकी तथाकथित आवारागर्दी पर रोक लगाने के लिए इनका विवाह 12 वर्ष की आयु में ही कर दिया गया। पत्नी रमादेवी (रमदेई) एक सीधी-सादी, सुशील, गंभीर और पतिपरायण महिला निकली। घरवाले पति बालकृष्ण भट्ट को निखट्टू समझते ही थे सो साझे में रहते हुए सारा क्रोध बेचारी पत्नी चुपचाप सह लेती। डॉ. मधुकर भट्ट के अनुसार : ''भट्ट जी के निबंधों आदि में नारी के प्रति जो सम्मान-भावना और जर्जर रूढ़ियों की चक्की के बीच पिसने वाली नारी के प्रति सहज सहानुभूति तथा स्त्री जाति को अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए परवश और दासी बनाने वाले पुरुष समाज के प्रति तीक्ष्ण आक्रोश मिलता है उसकी प्रेरणा आपको बहुत कुछ अपने पारिवारिक वातावरण से ही मिली थी। अनेक अभावों के बीच अपने कर्तव्य-मार्ग में भट्ट जी को लगाए रखने का बहुत कुछ श्रेय इनकी मनस्विनी अर्द्धांगिनी को भी था।'' संयुक्त परिवार में बालकृष्ण के छोटे भाई का कहीं अधिक आदर था। उनका विवाह भी धूमधाम से हुआ था। छोटी बहू घर में रमादेवी और पति बालकृष्ण के लिए और भी कष्टों और व्यंग्य बाणों का उपहार लेकर आई। नित्य झगड़े होते, रमादेवी पर अकारण अत्याचार होता। बालकृष्ण मात्र 25 रुपए मासिक की अध्यापकी करते जिसका पिता के सामने उतना ही महत्त्व था जितना सूर्य के आगे दीपक का। एक तो कमाने-धमाने में निखट्टू और दूसरे आग में घी की तरह इनके बढ़ते हुए क्रांतिकारी विचार, जैसे बाल-विवाह का विरोध, विधवा विवाह का समर्थन, स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा और रूढ़ियों का विरोध। कटु और विषाक्त वातावरण में वैवाहिक जीवन

के 15 वर्ष बीत गए। बच्चे हुए लेकिन उनकी भी दुर्गति ही हुई। आख़िर भावज के, हृदय पर गहरे आघात ने, काम किया और भाई तथा पिता के सहानुभूतिविहीन नेत्रों के सामने अपनी पत्नी और बच्चों के साथ घर त्याग दिया। फिर क्या-क्या पापड़ नहीं बेले। तो भी पिता के लिए मन में सदैव आदर रहा। पिता और भाई ने लाखों रुपए कमाए, लेकिन बालकृष्ण भट्ट ने जो तीन वर माँगे थे उनमें से एक था : 'पैतृक संपत्ति में से एक पैसा भी हमें न मिले।' मित्र वर्ग से इन्हें सहारा और ढाढ़स अवश्य मिलता रहा। जीवन के इस संदर्भ में भट्ट जी के संयुक्त कुटुंब विरोधी विचारों को देखना उपयुक्त होगा। वे संयुक्त कुटुंब को आत्मनिर्भरता का शत्रु मानते थे। उन्होंने *हिंदी प्रदीप* के जुलाई-अगस्त 1989 अंक में लिखा है : "यदि हम स्वतंत्र होना चाहें तो पहले समाज बंधन के बोझ को हल्का करें जो सर्वथा बेबुनियाद है और जिसके रहते हममें कर्मण्यता और साहस कभी आएगा ही नहीं। पारिवारिक एकन्नवर्धिता (ज्वाइंट फ़ैमिली) आत्मनिर्भर और स्वतंत्रता अपहरण का प्रधान कारण है। कुटुंब भर के एक ही मकान में गँजे रहने की बुरी रस्म को जब तक हम पालते रहेंगे तब तक आत्मनिर्भरता हमारे में कभी आएगी ही नहीं। हम लोगों के अंधे माँ-बाप जान-बूझकर अपने लड़के को पर भाग्योपजीवी बना देते हैं। बाप-माँ यदि अपनी संतान को जवान होने पर अलग कर दें और तब उनका विवाह करें...उसके बोझ से अपने को हल्का कर डालें तो दोनों सुखी रहें।" बहरहाल, जैसे-तैसे जीवन-यापन के लिए कार्य चलते रहे लेकिन अध्ययन की अपनी राह उन्होंने कभी नहीं छोड़ी। भाषाएँ भी सीखीं, ज्योतिष आदि का भी ज्ञान प्राप्त किया। 1908 में देश प्रेम और राष्ट्रीयता के कारण नौकरी को भी त्यागना पड़ा। *हिंदी प्रदीप* का संपादन तो 1877 में ही आरंभ कर चुके थे। इनके निबंधों का वास्तविक स्रोत *हिंदी प्रदीप* के अंक ही हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के द्वारा राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने के लिए 1867 में संपादित-प्रकाशित *कविवचन सुधा* की अगली कड़ी के रूप में ही भट्ट जी ने *हिंदी प्रदीप* का अलख जगाया था ताकि देश में सोई पड़ी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना और राजनीतिक उदासीनता को जगाने का महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हो सके। इसका प्रकाशन प्रयाग की हिंदी-प्रवर्धिनी सभा के माध्यम से हुआ था। पत्रिका का उद्‌घाटन स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र ने किया था। निस्संदेह इस पत्रिका के माध्यम से जहाँ विशेष रूप से हिंदी में निबंध साहित्य का सच्चा सूत्रपात हुआ वहाँ हिंदी-पत्रकारिता को भी नई एवं सही दिशा मिली। भारतेंदु के अनुसार :

शुभ सरस देश सनेह पूरित,
प्रकट हवै आनंद भरै।
बचि दुसह दुर्जन वायु सों 'मणिदीप'
सम थिर नहिं टरै।
सूझे विवेक विचार उन्नति,
कुमति सब यामें जरै।
'हिंदी प्रदीप' प्रकाशित
मूरखतादि भारत तम हरै।

निस्संदेह *हिंदी प्रदीप* एक ऐसा मासिक पत्र था जिसमें विविध विषयों पर सार्थक और भरपूर सामग्री विद्यमान रहती। भट्ट जी ने हिंदी गद्य साहित्य के निर्माण में अपूर्व कार्य किया था। *हिंदी प्रदीप* से पूर्व *सुदर्शन समाचार* में भी उनके अनेक निबंध प्रकाशित हुए थे। *हिंदी प्रदीप* के बंद हो जाने के बाद भी भट्ट जी निबंध लिखते रहे थे जो बाद में दुर्लभ हो गए। ऐसे निबंधों में से एक निबंध 'निःसहाय हिंदू' है।

भट्ट जी एक परम धर्मनिष्ठ वैष्णव थे। शास्त्रार्थ में उनकी गहरी रुचि और विचारों में दृढ़ता थी। वर्ण-व्यवस्था, जाति-पाँति को ढकोसला मानते थे। विदेश यात्रा के समर्थक थे। बहु-संतान विरोधी थे। उलटे-सीधे कर्मकांड

में फँसाने वाले ब्राह्मणों के भी वे विरोधी थे। पाखंड और अंधविश्वासों पर उन्होंने कुठाराघात किया है। तीर्थयात्रा के भी वे विरोधी थे। इसी प्रकार दहेज़-प्रथा, पर्दा-प्रथा और बेमेल विवाह आदि का उन्होंने विरोध किया। सच तो यह है कि उनमें कबीर की-सी बेपरवाही और निर्भीकता थी। उनके स्वरों में आवश्यक फटकार भी थी। वे गरमदल के क्रांतिकारी विचारक थे।

लेखन

बालकृष्ण भट्ट का प्रमुख रूप एक निबंधकार का है। वे हिंदी के सर्वप्रथम निबंध लेखक थे। इनके निबंध बहुत ही उच्च कोटि के, सुंदर, गंभीर और साहित्यिक सौरभ से युक्त हैं। इनका प्रत्येक निबंध भाषा की सजीवता, रोचकता और स्थान-स्थान पर सुंदर मुहावरों की लड़ी से गुथा हुआ एक सुंदर गुलदस्ता मालूम होता है। (*हिंदी की दशा और पत्रकारिता,* भूमिका, पृ. 14)। लेकिन यह भी सच है कि भट्ट जी का निबंधेतर लेखन (उपन्यास, नाटक आदि) भी आज हमारे समक्ष है और उसका भी कम से कम ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही।

लेखन की चर्चा करने से पहले यहाँ, इस बात को रेखांकित करना उपयुक्त होगा कि भट्ट जी ने हिंदी की अविकसित दशा में अपना लेखन प्रारंभ किया था। अतः उनकी चिंता और चिंतन का एक प्रमुख सरोकार हिंदी की दशा और गद्य में उत्कृष्ट रचना का अभाव भी था। भट्ट जी ने भारतेंदु के सहयोगी के रूप में, हिंदी भाषा को साहित्यिक रूप देने में भरपूर योगदान दिया। वस्तुतः भट्ट जी को भाषा में पंडिताऊपन पसंद नहीं था। वे तो उसे जन-जन की भाषा के रूप में देखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी भाषा में उर्दू, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, संस्कृत आदि अन्य भाषाओं के शब्दों के सहज उपयोग से परहेज नहीं किया। साथ ही लोक मानस के लिए सहज संप्रेषणीय एवं ग्राह्य कहावतों और मुहावरों के अद्वितीय प्रयोग से भी उन्होंने हिंदी को समृद्ध किया। इस प्रकार उन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से एक ऐसी भाषा-शैली का स्वरूप निर्मित करना चाहा जो देशव्यापी हो और राष्ट्रीय भाषा कहला सकने में समर्थ हो। इस संदर्भ में भट्ट जी के साथ रह चुके सुंदरलाल का यह कथन विचारणीय है कि "हिंदी के दो ख़ास लेखक अपने-अपने ढंग से प्रसिद्ध थे—एक पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी और दूसरे पं. बालकृष्ण भट्ट। मेरी और मेरे जैसे बहुतों की निगाह में पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होती थी किंतु भाषा में रस लगभग नदारद। दूसरी ओर पं. बालकृष्ण भट्ट अपनी भाषा में व्याकरण की बहुत अधिक परवाह नहीं करते थे, किंतु उनकी भाषा बढ़िया-से-बढ़िया रसगुल्लों की तरह रस से भरी होती थी। भट्ट जी अपनी भाषा में फ़ारसी, अंग्रेज़ी और अरबी तक के चालू और आमफ़हम शब्द और मुहावरे नगीनों की तरह जड़ देते थे।" (*हिंदी की दशा और पत्रकारिता,* दो शब्द, पृ.14)। भट्ट जी की भाषा की एक अन्य विशेषता उसका व्यंग्यमयी छटा से संपन्न होना भी है। किसी लेखक की भाषा में सार्थक व्यंग्यमयी छटा तभी आती है जब उसके व्यक्तित्व में निर्भीकता और सदाशयता कूट-कूटकर भरी हो। यहाँ यह संकेत करना भी उचित होगा कि भट्ट जी ने अपने निबंधों में, विशेष रूप से साहित्य, धर्म और संस्कृति प्रधान निबंधों में न केवल संस्कृत के शब्दों का बल्कि संस्कृत-श्लोकों का काफ़ी उपयोग किया है। वह भी बिना उनके अर्थ दिए हुए। अतः आज के पाठकों के लिए जिनके पास संस्कृत के ज्ञान की पृष्ठभूमि नहीं है, निबंधों के ऐसे अंश बोझिल और उपेक्षणीय सिद्ध हो सकते हैं। हाँ, ज्ञानियों के लिए ऐसे अंश निबंधों की विषय और भाषागत समृद्धि का ही कारण रहेंगे। साधारण से साधारण विषय को असाधारण बनाने की अद्भुत कला बालकृष्ण भट्ट की विशिष्ट पूँजी है।

माना गया है कि बालकृष्ण भट्ट का पहला निबंध-संग्रह *साहित्य सरोज* 1920 में प्रकाशित हुआ था जिसका संपादन पंडित लक्ष्मीकांत भट्ट ने कलकत्ता से किया था। बालकृष्ण भट्ट ने विशेष रूप से राजनीतिक, सामाजिक, नारी विषयक, धर्म विषयक, साहित्य (रचनात्मक या राष्ट्रीय), साहित्यकार और भाषा विषयक, मनोवैज्ञानिक, जीवनी संबद्ध, दार्शनिक और नैतिक विषयों पर तो निबंध लिखे ही हैं, ललित निबंध भी पर्याप्त लिखे हैं जिनमें भरपूर रोचकता है।

भट्ट जी का ललित-निबंधकार रूप भी बहुत सशक्त है। ललित निबंधों में हल्कापन आने का ख़तरा बना रहता है लेकिन बालकृष्ण भट्ट उससे



बचे हैं। सच कहें तो ऐसे निबंधों में किसी भी समर्थ लेखक का भाषा और शैलीगत अधिकार भी देखने को मिलता है। भट्ट जी एक सजग चिंतक थे अतः उनके ललित निबंध भी बौद्धिकता की सूक्ष्म परतों से संपन्न हैं। उनकी बेतकल्लुफ़ी, व्यंग्य और चुटकी, मुक्त हास और परिहास सब पाठक पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। विविधता और रोचकता से संपन्न उनके निबंध अनेक शैलियों में गूँथे हैं। उनका एक लेख है—'रस में फीकापन कब आता है?' कसी हुई भाषा, रोचकता और हास्य-व्यंग्य की आत्मीय फुहारें देखते ही बनती हैं : "रोज़ ख़िज़ाब करते हैं, दिन में चार दफ़ा दवा चाटते हैं, सेरों मोती घोंटकर खा गए, पहले का-सा रस नहीं आता। जिसके पाने को हज़ार तदबीर और यत्न करते हैं, कुछ कारगर नहीं होती। तेल और पानी से नित्य देह चुपड़ते हैं कि पुराने ठिकरे पर नई क़लई की भाँति फिर जवान मालूम हों, पर असली बात नहीं आती, वरन् फीकापन बढ़ता ही जाता है।" (*भट्ट निबंधावली*, धनंजय भट्ट 'सरल', पृ. 111)

भारतेंदु युग में ललित निबंधों के लिए एक बहुत ही प्रचलित शैली थी—स्तोत्र शैली, ऐसे निबंधों में व्यंग्य और चुटकी की छटा और हास्य देखते ही बनता है। यूँ, भट्ट के अधिकांश निबंधों में व्यंग्य मिलता है और शुद्ध हास्य उनके यहाँ अपेक्षाकृत कम मिलता है तब भी उक्त शैली में लिखे गए बालकृष्ण भट्ट के लेख अनूठे हैं। उनका सामाजिक व्यंग्य तो मार्मिकता की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है। वस्तुतः व्यक्ति, समाज, व्यवस्था, सत्ता, जनता, स्त्री आदि सबको उन्होंने विषय बनाया है। भारतेंदु ने जहाँ 'कंकड़ स्तोत्र', 'अंग्रेज़ स्तोत्र' आदि निबंध लिखे, भट्ट ने इस शैली में 'हाकिम और उनकी हिकमत, 'म्युनिसि-पालिटी स्तोत्रम', 'पत्नीस्तव', 'हुक़्क़ास्तवम्', 'ग्राहक स्तुति' आदि कितने ही निबंधों की रचना की। 'पत्नीस्तव' की कुछ पंक्तियाँ इस संदर्भ में पढ़ी जा सकती हैं जिनमें बाल-विवाह पर व्यंग्य और अच्छी-बुरी पत्नी की समझ सहज ही मिल जाती है : "हे महारानी पत्नी तुम्हें नमस्कार है।...एक बार विवाह कर तुम्हारे जाल में फँस जाना चाहिए फिर क्या सामर्थ कि इस बंधन को तोड़ कोई कहीं भाग सके...अति अल्पवय दस-

बारह वर्ष की ही उम्र में तुम्हारे जाल में फँस जाने से हिंदू जाति की कमज़ोरी, हीन-बल क्षीण, वीर्य-हीन सत्व हो जाने का तुम्हीं मुख्य कारण हो...। जहाँ तुम्हारा प्रचंड विकट, भयंकर और उद्दंड रूप घर के एक-एक प्राणी को विकल किए है, वहाँ दरिद्रता का रूदन और क्रंदन का सहकारी हो हाहाकार मचाए हुए है। सेवा करने में दासी, एकांत में सलाह देने वाली मित्र, घर-गृहस्थी की बातों में उपदेश देने वाली गुरु, पतिभक्ता, पति प्राण पत्नी उन्हीं को मिलती है जिन्होंने किसी पुण्य तीर्थ में अच्छी तपस्या कर रखी है।'' इसी प्रकार परिहास शैली के लिए 'हुक़्क़ास्तवम्' की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं जिनमें भट्ट जी की भाषा-सक्षमता भी देखते ही बनती है : ''हे कुंडलाकृत घूमराशि समुत्पादिनी : हे अलस जन प्रतिपालिनी भार्या भत्सित जन चित्त विकार विनाशिनी प्रभु, भीतजन साहस प्रदायिनी, हे मूढ़े।...हम सरीखे आलसी, निष्पुरुषार्थ बेरोज़गार मनुष्यों को तो दिल लगाने के लिए केवल तुम्हारा ही आसरा है, आप न होतीं तो हमारे अमीरों की महफ़िलों को कौन शोभित करता...।''

बालकृष्ण भट्ट के विषय प्रधान निबंधों का विशेष महत्त्व है। उन्होंने राजनीतिक विषयों पर तो साहित्यिक विषयों से भी अधिक लेखनी चलाई है। सामाजिक निबंधों में जहाँ उनका समाज सुधारक रूप व्यक्त होता है वहीं बाल-विवाह, बाह्य आडंबर, जात-पात, छुआछूत, अंग्रेज़ी शिक्षा प्रदत्त फ़ैशन-परस्ती आदि कितनी ही कुरीतियों पर उन्होंने तीखे प्रहार किए हैं। नारी केंद्रित निबंधों की दृष्टि से तो उन्हें नारी-विमर्श का सशक्त दावेदार कहा जा सकता है। विशेष रूप से स्त्रियों और उनकी शिक्षा पर उन्होंने बहुत बल दिया। 'पर्दा-प्रथा' के तो वे घोर आलोचक थे। बाल-विवाह की बुराई दूर हो इसके लिए उन्हें इस दिशा में विदेशी सरकार के प्रस्तावित सहयोग से भी गुरेज़ नहीं था : ''यदि यह कहा जाए कि विदेशी गवर्नमेंट से हम अपने घर की बुराइयों को दूर करने की प्रार्थना करें इससे बढ़कर लज्जा की बात और क्या होगी! तो इसके उत्तर में हम यह कहेंगे कि इस बाल-विवाह की बुराई के कारण अपनी हर तरह की हानि सहते जाने से लज्जा का बोझ उठाना उत्तम है।'' उन्होंने धर्म विषयक निबंध भी लिखे लेकिन इस क्षेत्र में भी वे किसी भी धर्म के अंध समर्थक प्रतीत नहीं होते। इस संबंध में उनका विचार था : ''धर्म से हमारा प्रयोजन यह नहीं कि हम किसी एक ख़ास धर्म की प्रशंसा करें और न यह हमारा तात्पर्य है कि हम यह दिखलाएँ कि अमुक धर्म की बातें बड़ी उत्तम हैं, इससे उसी ख़ास धर्म पर चलना चाहिए। हमको भिन्न-भिन्न संप्रदाय और मत-मतांतरों के झगड़ों से कुछ सरोकार नहीं...धर्म जितने हैं उनकी नींव विश्वास पर है तर्क पर नहीं।'' स्पष्ट है कि अपने विचारों में क्रांतिकारी भट्ट अंततः एक संतुलित विचारक थे। इनके अतिरिक्त उनके निबंधों को मनोवैज्ञानिक, जीवनीपरक, नैतिक और दार्शनिक निबंधों की श्रेणियों में भी बाँटा जा सकता है। उनके शोधकर्ता डॉ. मधुकर भट्ट को तो लगभग संस्कृत के 60 कवियों की हस्तलिखित जीवनी प्राप्त हो सकी जिनके संबंध में उनका मत है कि ''भट्ट जी ने संस्कृत के प्रायः सभी कवियों के जीवन-संबंधित तथ्यों पर बड़ी गंभीरता से विचार किया है। भट्ट जी का यह जीवनी साहित्य दुर्भाग्यवश अभी तक अप्रकाशित है। दंडी, भामह, रूद्रट, रूय्यक, आनंदवर्धन, बाणभट्ट, भवभूति, कालिदास, जयदेव, श्रीकृष्ण आदि अनेक संस्कृत कवियों के जन्म-स्थान, जन्म-तिथि, ग्रंथ रचना-काल और मृत्यु-तिथि के संबंध में भिन्न-भिन्न निरूपण के बाद भट्ट जी ने अपना मत बड़े आधिकारिक रूप में स्थापित किया है।'' उनके यहाँ 'शंकराचार्य और गुरु नान्हिक' जैसे तुलनात्मक दृष्टि से लिखे गए निबंध भी उपलब्ध हैं।

जहाँ तक साहित्य पर केंद्रित निबंधों का प्रश्न है, भट्ट जी ने साहित्य और भाषा संबंधी निबंध ही नहीं लिखे बल्कि छंद, रस, अलंकार, व्याकरण आदि शास्त्रीय पक्ष से संबद्ध विषयों पर भी निबंध रचना की है। कल्पना प्रधान काव्यात्मक निबंधों में चंद्रोदय, भालपट्ट, कल्पना आदि को लिया जा सकता है। उनके अनेक निबंध समाचार पत्र की आवश्यकता और पत्रकारिता पर भी उपलब्ध हैं।

साहित्य को भट्ट जी जनसमूह के हृदय का विकास मानते हैं। उनका एक निबंध है— 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है'। उनके अनुसार, ''प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है, वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।...इसलिए यदि साहित्य जन-समूह के चित्त का चित्रपट कहा जाए तो संगत है।''

थोड़ा जायज़ा भट्ट जी की अन्य विधाओं में रचे साहित्य का भी लिया जा सकता है। हिंदी गद्य के विशिष्ट उदय के साथ जिन विधाओं का शुभारंभ हुआ उनमें एक उपन्यास है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पं. श्रद्धाराम फुल्लोरी रचित *भाग्यवंती* को सामाजिक उपन्यास और 1882 में लाला श्रीनिवास द्वारा रचित *परीक्षा गुरु* को अंग्रेज़ी का पहला हिंदी उपन्यास कहा था। सदादर्श प्रेस, दिल्ली से प्रकाशित इस उपन्यास *परीक्षा गुरु* को ही बाद के लेखकों ने प्रथम उपन्यास माना है। लेकिन एक शोध के अनुसार कालक्रमानुसार बालकृष्ण भट्ट के *रहस्य कथा उपन्यास* को पहला उपन्यास माना जाना चाहिए क्योंकि वह *हिंदी प्रदीप* के नवंबर 1879 के पृ. 6 पर, शेष दो उपन्यासों— *भाग्यवंती* (1887) और *परीक्षा गुरु* (1882), से पहले छपा था। कदाचित् *हिंदी प्रदीप* की दुर्लभता के कारण उक्त उपन्यास की ओर हिंदी-विद्वानों का ध्यान न जा सका। यद्यपि भट्ट जी के द्वारा रचित 8 मौलिक उपन्यासों और एक अनूदित उपन्यास का ज़िक्र मिलता है लेकिन प्रसिद्ध उनके दो ही उपन्यास हुए— *नूतन ब्रह्मचारी* और *सौ अजान एक सुजान*।

नूतन ब्रह्मचारी बालोपयोगी शिक्षाप्रद उपन्यास है और लेखक की इच्छा थी कि युवाओं के चरित्र निर्माण के लिए यह उपन्यास पाठ्यक्रम में लगे। दूसरा उपन्यास भी शिक्षाप्रद है। उपन्यास के प्रारंभ में एक सोरठा है जो विषय-वस्तु की ओर संकेत करता है :

खोटे को संग साथ, हे मन तज्यौ अंगार ज्यों।
तातो जारै हाथ, सीतल हू कारो करै।

कुसंगत किस प्रकार अच्छों को भी बिगाड़ देता है, यही उपन्यास का संदेश है। वस्तुत: भारतेंदु युग के उपन्यासकारों में जो हिंदी उपन्यास का प्रारंभिक युग था, कला की दृष्टि से अनेक कमज़ोरियों के बावजूद, बालकृष्ण भट्ट का योगदान महत्त्वपूर्ण माना गया है। भट्ट जी की



आज दो कहानियाँ और लगभग 55 कविताएँ भी उपलब्ध हैं लेकिन उनका महत्त्व साहित्यिक योगदान की दृष्टि से उतना नहीं माना जा सकता जितना लेखक के निजी योगदान की दृष्टि से। दृष्टि उनकी ऐसी रचनाओं में भी कबीर की-सी मिलती है। सामाजिक कुरीतियों के प्रति आक्रोश वाली।

नाटक के क्षेत्र में अवश्य उनका योगदान रेखांकित हुआ है। उन्हें अपने समय का कुशल नाटककार भी कहा गया है। भारतेंदु के बाद सर्वाधिक नाटक लिखने वालों में उनका ही नाम आना चाहिए। भट्ट जी के नाटक *हिंदी प्रदीप* के साथ तत्कालीन अन्य पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुए थे। रामचंद्र शुक्ल ने उनके 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह' और 'चंद्रसेन' चार नाटकों को मौलिक नाटकों के रूप में माना है। बाद के शोधकर्ताओं ने कुछ और नाम भी गिनाए हैं। डॉ. मधुकर भट्ट ने अपने शोध-प्रबंध में स्थापित किया है कि 'चंद्रसेन' को छोड़ सभी शेष नाटक दूसरों के हैं भले ही वे *हिंदी प्रदीप* में ही छपे हों। उन्होंने उनके मौलिक और अनूदित नाटकों और प्रहसनों की संख्या उन्हें राजनीतिक, पौराणिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक वर्गों में विभाजित करते हुए 18 मानी है जिनमें 'भारतवर्ष और कलि', 'चंद्रसेन', 'इंग्लैंडेश्वरी' और 'भारत जननी', 'दो दूर देशी', 'हिंदुस्तान और अफ़ग़ानिस्तान', 'पद्मावती' (अनूदित), 'सीता वनवास', 'पतित पंचम', 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपाल वध' आदि सम्मिलित हैं। इनमें पौराणिक नाटकों की संख्या सबसे ज्यादा है। निश्चित रूप से नाटकों के माध्यम से भी उनका लक्ष्य भारतवासियों को जागरूक बनाना ही था। प्राचीन भारतीय संस्कृति में उनकी गहरी आस्था थी लेकिन अपने पौराणिक नाटकों में भी वे प्राचीन गौरव दिखलाने तक सीमित न थे बल्कि देशवासियों को उस गौरवजन्य जागरूकता तक ले जाना उनका लक्ष्य था। राजनीतिक नाटकों और प्रहसनों में तो उनका राष्ट्रप्रेम देखते ही बनता है। तीखे व्यंग्य और चुटीले हास्य से वे भरपूर हैं। 'चंद्रसेन' भट्ट जी का एकमात्र मौलिक ऐतिहासिक नाटक है जिसकी कथा अलाउद्दीन खिलजी के समय की है। यह संस्कृत नाट्य शैली पर लिखा गया नाटक है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भारतीय नवजागरण के संदर्भ में हिंदी नवजागरण का बीज मंत्र फूँकने वाले प्रथम अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ, सशक्त क़दम बढ़ाते हुए प्रगतिशील विचारक बालकृष्ण भट्ट ने भी अपनी भाषा को अपनी पहचान की पहली शर्त माना और अपने निबंधों के विशाल भंडार से उसे समृद्ध किया। आग्रह था : निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल। नामवर सिंह के शब्दों में : ''इस आग्रह का कारण शायद यह था कि अन्य प्रदेशों में जहाँ फ़ारसी के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं को कचहरी जैसे सरकारी दफ़्तरों में मान्यता मिल गई थी, हिंदी—केवल हिंदी ही इस अधिकार से शताब्दी के अंतिम दशक तक वंचित रही। इस स्थिति में हिंदी नवजागरण के लेखकों को अंग्रेज़ी के साथ-साथ अपनी सगी बहन उर्दू के वर्चस्व के विरुद्ध भी संघर्ष करना पड़ा।'' भट्ट जी के उर्दू-विरोध का भी यही संदर्भ है। उन्होंने निस्संदेह अपने समय के सभी ज्वलंत सामाजिक प्रश्नों को जमकर मथा है। आर्थिक अभावों के सहते हुए भी 'प्रदीप' की 'जोत' जलाए रखी। उनकी निगाह गाँव से शहर तक पसरी थी। अपनी परंपरा की जड़ों की उन्हें गहरी पहचान थी। समकालीन आधुनिक परिवेश की उन्हें गहरी समझ थी। पाखंडों, अंधविश्वासों, विभाजक घटकों आदि पतनोन्मुख प्रवृत्तियों के विरुद्ध वे कबीराना अंदाज़ में क्रांतिकारी थे। एक विवेकशील, स्वतंत्र, अपनी अस्मिता को प्राप्त किए सर्वहित साधक, सजग भारत के वे स्वप्नद्रष्टा थे।

ओड़िया कविता

सीताकांत महापात्र

चुपचाप चला जाता है कोई

सुबह उठते ही
दिनभर के काम आँखों में छा जाते हैं
पखाल* भात के साथ
अचार हो या बड़ी का चूरा
जो भी मिला
जल्दी-जल्दी खा लेता है थोड़ा-सा
और दीवार के फ़ोटो फ्रेम के पीछे से ताकते
ठाकुर जी को प्रणाम करके
हल उठाकर चल पड़ता है।

पसीने से सराबोर
निर्दयी सूर्य को, कीचड़ की कठिन सनाई को
बार-बार कहना न मानकर
कितनी ही बार उखाड़ फेंकने पर भी
फिर-फिर उग आते जंगली पौधों को
शाप देकर और उसके लिए
दोषी-दोषी-सा मन लिए
घर लौट आता है
हाथ धोकर, पालथी मारकर
एक मिनट के लिए ध्यान में धन्यवाद देता है
भाप निकलते भात में छिपे भगवान को,
कभी नहीं कोसता वह अपनी बदक़िस्मती को।

ईश्वर को जो देना है
उसमें ज़रा भी देर नहीं लगाता
जैसे देर नहीं लगाता भूमि-कर जमा करने में
या बीज के लिए लिया ऋण और
पड़ोसी से लिया उधार चुकाने में।

शाम को गाँव के बाहर
मंदिर जाता है वह कभी-कभी
कुछ भजन और खँजड़ी की चोट सुनता है

* पखाल : पानी मिला बासी भात।

ओड़िया के प्रतिष्ठित कवि सीताकांत महापात्र का जन्म 1937 में हुआ। इनके ओड़िया में पंद्रह कविता-संग्रह, हिंदी, यूरोपीय, अंग्रेज़ी में कई संग्रह, अनूदित-प्रकाशित। पद्मभूषण, भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य अकादेमी, सोवियत लैंड नेहरू तथा अन्य कई संस्थाओं से पुरस्कृत। संपर्क : 21, सत्यनगर, भुवनेश्वर 751007 (ओड़िशा)

अनु. राजेंद्र प्रसाद मिश्र का जन्म 1955 में हुआ। हिंदी-ओड़िया में परस्पर अनुवाद की लगभग 60 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार तथा अन्य कई संस्थाओं से पुरस्कृत हैं। संपर्क : एन.टी. पी.सी., सेक्टर-24, ई.ओ.सी., नोएडा 201301

लौटता है रास्ते भर सोचता हुआ
काश! मंदिर के देवता से हो जाती मुलाक़ात सहसा
अँधेरी गली के छोर पर
दिल खोलकर सब कुछ बखान जाता
संभावना देख कुछ मदद भी माँग लेता।

कभी किसी पर दोष नहीं मढ़ता वह
न ठाकुर जी पर, न साहूकार पर, न भाग्य पर
पत्नी, बच्चे देखते उसे
करता है वह सारे काम रोज़ की तरह
फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही कि
धीरे-धीरे अधिक-से-अधिक
ख़ामोश रहने लगता है।

घर में किसी से
न पत्नी से, न बच्चों से
कुछ नहीं बोलता
खेत में, काम में व्यस्त पड़ोसियों से भी
कुछ नहीं बोलता
मंदिर में किसी से कुछ नहीं बोलता
और लौटते समय ख़ुद से भी
कुछ नहीं बोलता।
मानो मुँह से उसके
चुरा लिए हों सारे शब्द किसी ने
मानो मँडराती फिरती कोई नन्ही मक्खी हो वह।

एक दिन सुबह उठने में देर होते देख
पत्नी उसे पुकारती है, पकड़कर झकझोरती है
सीना फाड़-फाड़कर बिलखते हुए
बच्चों को बाँहों में भर लेती है
दीवार पर धम्म-से सिर पटक देती है।

जन्मदिन

(एक)
बहुत दिन हो गए चलते-चलते
पार कर आया हूँ एक लंबी राह
स्वर्ग, नरक देव-असुर, पाताल सहित
नदी, नाले, पर्वत और सघन वन।

कभी थकावट न हुई हो
पैरों से ख़ून न रिसा हो
ऐसा भी नहीं
राह के छायादार वृक्षों ने
हाथ के इशारे से न बुलाया हो
ऐसा भी नहीं,
पर जादूगर क्षितिज ने
बचपन के बाइस्कोप-से
नए-नए दृश्य खोलकर दिखाए हैं
कानों में कहा है, "देखो, देखो
बारह हाथ की रानी तेरह हाथ की साड़ी पहने
किस तरह लेटी हुई है।"

मैं दावे से कह सकता हूँ कि
जिस दिन मैं जन्मा था,
उस दिन अँधेरी रात में
तबीअत ख़राब थी अनेक देवताओं की
और कुछ थके-हारे
सो रहे थे गहरी नींद,
शायद इसीलिए मेरे जन्म-लग्न में
माँ की तमाम मिन्नतों के बावजूद
आशीर्वाद देने
एक भी नहीं आए,
दीवार की कौड़ियों पर नाचती परछाईं
सोहर की बुझती जा रही दपदपाती आग
और जम्हाई लेती शून्यता, अँधेरे के सिवा
कोई नहीं था माँ के पास।

उसके बाद बह चली समय की नदी
और मैं किनारे-किनारे चलता गया।
स्कूल से बस्ता उठाकर
पाटी से ब्रह्मा, विष्णु , महेश
तीनों को पोंछकर चला आया
और शुरू कर दिए तरह-तरह के काम।
हज़ारों इधर-उधर के पन्नों पर
न जाने कितनी आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींची;
तरह-तरह के दफ़्तरों में,
होटलों के रजिस्टरों में, बैंकों में
चकबंदी के रिकॉर्ड में,

असंख्य पत्राचारों में, दफ़्तर के काग़ज़ात में
अपने हस्ताक्षर खोए;
कभी-कभी भिन्न-भिन्न अक्षरों के फूल लिए
अपने आँसू और मुस्कान के धागे में
कविता की माला भी गूँथी।

(दो)

अब लेखा-जोखा का हिसाब करते समय
याद आता है, न जाने कितनी बार टिका था
दादी जी और बाबू जी के कंधों से
टिका था फिरकी और तितलियों से
चित्रोत्पला की नन्ही-नन्ही लहरों, इंद्रधनुष
और तरह-तरह के सपनों से;
सारे दुख, सारे घाव, सारी रुसवाइयाँ
हृदय के कोटर में सहेजे
टिक गया पत्नी और बच्चों से।

फिर बेटा-बेटी, नाती-नतनियों की
हँसी, रुलाई, ज़िद, शरारत, स्नेह
आषाढ़ की संजीवनी जलधार-सी
बरसने लगी मेरे ऊपर।
फिर भी दुस्वप्न, शून्यता, सारी धूल और राख
जम गए मेरे सीने पर।
अब भी गाँव की नदी की रेत पर
बचपन में बनाया घरौंदा
मुझे फिर बुला रहा है
और कभी-कभी सूर्यदेव पूरे पश्चिमी आकाश में
बिखरा गुलाल समेटकर जब जाने लगते हैं
सहसा मेरा नाम लेकर कोई पुकार उठता है
दूर खेतों के उस पार, क्षितिज किनारे।

(तीन)

हर साल चेहरे पर मुस्कान और
थाली में विष, पीयूष, फूल-फल-दीप लिए
आता है मेरा जन्मदिन
गीत का आधा याद पद बोलता है
कुछ मुस्कुराता है, मुझसे दोस्ती करता है।

और फिर साँझ होती है,
रात घिर आती है
गुनहगार-सा विदाई माँगता है वह दिन
और मुझसे कहता है,
''तू यहीं रुक, मैं चलता हूँ
कहीं चले मत जाना
तू तो जानता है
साल भर लगेंगे
मुझे लौटने में।''

कारगिल से वापसी

(एक)
जाते समय बहुत कुछ
ले गया था वह अपने साथ।
क़मीज़ की जेब में
माँ की दी हुई पुरी के प्रसाद की पुड़िया
प्रभु जगन्नाथ का एक छोटा-सा चित्र,
थैले में बाड़ी के आठ अधपके आम
देर रात तक माँ के बनाए
दस पुए।

क़मीज़ की जेब में ही रखी थी
दो और तसवीरें :
पहली, शादी से पहले
लंबी चोटी, चमकभरी आँखें सुमित्रा की
और दूसरी, अपनी गोद में लिए सोनाली की।

ले गया था वह अपने गालों पर
सुमित्रा का लुके-छिपे दिया बिजली-सा चुंबन और
शरमाते हुए बिना इच्छा, किटकैट रिश्वत पाने के बाद
एक और छोटा-सा चुंबन सोनाली का
जो कारगिल पहुँचने तक भी गर्म थे।

सीने में ले गया था ढेर सारी सिसकियाँ
आँखों में दबाए अथाह आँसू
दूर नक्षत्रों की तरह अदृश्य हो जाने तक
उनके चेहरे।

(दो)

लौटा लकड़ी के बक्से में
तिरंगे में लिपटा, आँखें मूँदे;
बर्फ़ जैसे ठंडे गाल, सूखे फूल-सा
मुरझाया चेहरा लिए।
इस बार कुछ भी नहीं लाया था साथ :
न तो सोनाली के लिए चॉकलेट-खिलौने
ना ही कोई फ्रॉक;
न इनके लिए साड़ी
ना ही माँ के लिए हल्की-शॉल, नया चश्मा।

लौटा था इस बार बिलकुल ख़ाली हाथ।
तीर से बिंधा एक निष्पाप पक्षी
चक्कर लगाता उतरा आसमान से
हवाई जहाज़ में
लोगों की भीड़ में खोए
सुमित्रा और सोनाली के पास
वह भी अपने जन्मदिन पर।

नरेंद्र साहू

परिधि

ऐसा भी समय आता है कि
अचानक अकारण
पछताना पड़ता है।
स्वर सुनाई देता है
छाती में गुमसुम कलेजे का।
फिर से पाप-पुण्य तौलने को
अंतरात्मा रह-रहकर बिलखती है।

मैं इससे बाहर नहीं हूँ
क्योंकि बँधा हुआ हूँ ग्लानि से
पृथ्वी की देह के चारों ओर
दुख यंत्रणा का है नक़्शा
इस विपुल परिधि में
बिलकुल अकेला।
मैं तो ख़ुद हूँ एक निस्संग दुख

ओड़िया कवि नरेंद्र साहू की कविताओं का अन्य भाषाओं में भी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। संपर्क : बी.एस.एन.एल. कार्यालय, दक्षिणकाली मार्ग, ढेंकानाल, ओड़िशा
मो. 9861248238

अनु. कवि, कथाकार, नाटककार, अनुवादक श्रीनिवास उद्गाता की 164 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। संपर्क : कवि कुटीर, बलांगीर 767001 (ओड़िशा)

दोनों आँखें मूँदकर
आह भरी छाती के लिए
ग़ैरज़रूरी दिलासा को
निचोड़ देता हूँ अनजाने में।

मैं जानता हूँ
कि मेरा सामाजिक अहंकार
होगा नहीं मेरा पक्षधर
यह परिपूर्ण हरियाली
पशु-पक्षी, वृक्ष-लता
पहाड़ झरना
क्या सम्मान करते हैं मेरे अभिमान का... ?
उसमें से समेट लेता
कम-से-कम ज़िंदगी के रहते...
अगर कोई आशा थी
आधी ज़िंदगी में सब-कुछ आज
वह आँसू बन आँखों में रह गई।

अब मैं अपनाऊँ किस राह को
काँटे-कंकड़ का जीवन...
उन अगम झुरमुटों को... ?
नहीं तो चेहरा छिपाने वाले
समय के शीतल स्पर्श से छिप जाऊँगा... ?
या, अंतिम बार के लिए
जहाँ मुझे न होना चाहिए
अचानक वहाँ आकर
अज्ञात परिधि में
स्थिर हो जाऊँ एक बिंदु की तरह... ?

देहातीत

अब हम परिणत वय में
सीख रहे हैं नया प्रेम।

परत जमती जाती आँखों से
देख रहे हैं रंगीन फूलों को।
सुना करते हैं नटखट भौंरों के गीत।
चिड़ियों की चहक और
झरने के ठंडे पानी में छिपकर

शिथिल झुर्रियाँ पड़े हाथों से
छू रहे हैं एक-दूसरे को।

अपनी उम्र को भूलकर
बस प्यार करते हैं...!

प्यार करना क्या
झुकता आता एक निविड़ आकाश है ?
प्यार करना क्या
काँटे में फँसकर झूलने वाली एक मछली है ?
परिव्याप्त अनंत समय
उसे लाँघकर महाशून्य
अँधेरा और निर्वेद समय
सृष्टि, युग या सर्जना
कहीं कुछ भी नहीं
बस एक भँवर बनाती महक है...
...प्यार करना...
उस प्यार के दो डैने
मिले हैं हमें...
और हम उड़ रहे हैं।

तुम्हारी आँखों में उठे लहर तो
हथेली पसार देता हूँ मैं
मेरी छाती में भर आने से आह
तुम दिखा देती हो गोद
प्यार के मानक को
बूँद भर मुस्कान...एक धारा आँसू
सामान्य स्पर्श...यथेष्ट है...!

हम इसी आशा से जिंदा हैं
आगे जीते रहने की आस लिए
जीवन ने हमें संबंध के अलावा
और कुछ भी समझाया नहीं है...
तो उम्र के ढलते समय
हम और क्या करें ?
बस अधिक-से-अधिक प्यार ही करते हैं !

दो देहों को माध्यम बनाकर
आम के पीले पत्ते
पता नहीं कब अचानक झड़ जाएँ।

देह पर सूक्ष्म रूप
झूला हवाई झोंकों का
उसी झूले में झूल रहे हैं हम...!

प्राप्ति

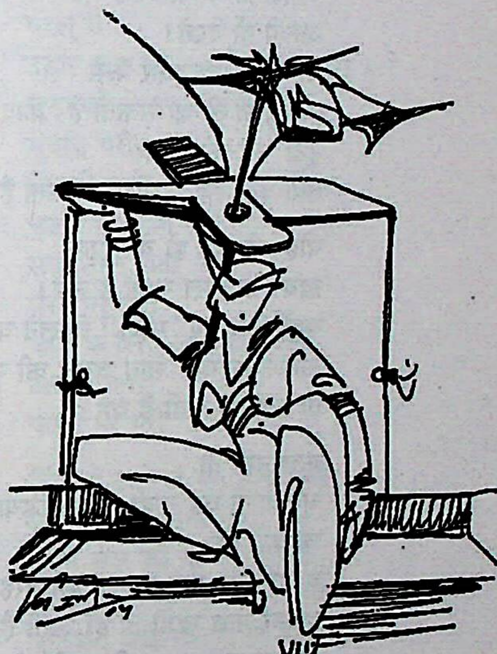
इतने दिनों के बाद
आज आई हो और पूछती हो
कितना भोगा जीवन को
और कितने सम्पर्पित कर दिए
समय के हाथों में!

बोला...जो आँसू से मिला
उसे सहेज लिए
हँसी दे देकर लुटा दी
अब तुम्हारे लिए कुछ भी है नहीं
बस है यह पत्थर की देह...
चमकती आर्द्र आवेग में।

मेरा विपन्न अहम् और
काकुस्थ स्वाभिमान को
वरन् पराजय की ग्लानि में
अपने से सरकाया है
सोचकर, सभी स्पंदित अघटनों में
आकस्मिक रूप से दूर हो जाएँ
आत्मीय, परिजन, सखा, प्रेमिका
और अनुरक्ति का समय व शब्द...

जैसे-तैसे दूर हटाता रहा उन्हें
वैसे-वैसे भोगा भी एकांत में
निविड़ संबंध के बहाने।
फिर भी
मेरे पास कुछ नहीं,
बस है जो कुछ,
वह है सब्ज पर्याप्त शून्यता
और मुक्त नीरवता का जाल
लपेटे हुए हैं
शरीर के संवेदनशील
अंग-प्रत्यंगों को...

अब कहो...
कहाँ है वह प्राप्ति का पुलक
अनबूझ बेक़ाबू मोह
कहीं-कहीं अभाव बोध की लंबी साँस...
जिसे मैं छोड़ आया था धूसर अफ़सोस में
मेरी देह की गंध, मेरी आँखों की निर्लिप्त दृष्टि
और मेरे पैरों के निशानों को भी...
कोई बाँधे अपने आँचल में
हुई है फरार
जनहीन अँधेरे में...अलक्ष्य में...



ओड़िया कवयित्री मनोरमा विश्वाल महापात्र का जन्म 1948 में हुआ। दस कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ओड़िशा साहित्य अकादमी तथा अन्य संस्थानों से पुरस्कृत हैं। संपर्क : प्रीतमपुरी, एल.बी. 125, आचार्य विहार, भुवनेश्वर 13

अनु. श्रीनिवास उद्गाता

मनोरमा विश्वाल महापात्र

पीहर

कादंबिनी ने अरसे से पीहर देखा नहीं है
आजकल याद आती है तो
साग काटते-काटते उँगली छिल जाती है।
कितनी बिसुरने की बेला, ग़लतफ़हमी के दिन...
एक साथ याद आते हैं उसे...।

कादंबिनी ने अरसे से पीहर देखा नहीं है
बचपन में उसे 'काद दीदी' पुकारते थे गाँव में
शहर आने के बाद पता नहीं कैसे
मर गई भीतर ही भीतर काद दीदी।

कितने रजपर्व, सावित्री व्रत
कहीं किस भाँति खो गए हैं
बेटा फ़ोन पर कहता है
अब तो चली आओ अमरीका
क्या है उस घर में जो
बेकार पड़ी हुई हो!

अमरीका में जीवन है
आओ तो देखो!
पर जड़ उखाड़कर कैसे
अमरीका ले जा सकती है 'काद'।
टूटी जड़ को लेकर
क्या कोई ज़िंदा भी रह सकता है!

पीहर में झड़ हो या तूफ़ान
ख़बर तो मिल जाती है उसे।
यहाँ रहते हुए 'गइश'[1] खिलने की ऋतु
और 'मरदंगा'[2] साग चलने की सुगंध
तो पहचान पाती है वह!

कुछ नहीं तो
चूलवाली वह नन्ही-सी चिड़िया
चहकते हुए
बचपन की एक परछाईं की तरह
आकर पास खड़ी तो हो जाती है,
और ज़्यादा क्या चाहिए जीने के लिए!

राह चलते बालू में दब जाते हैं
ढेर सारे अनुभव।
फूल के पौधे को सींचते समय
पिछले दिनों को फिर से
सहलाने का मन करता है कादंबिनी का।
पीहर के फैले बियाबान से गुज़रकर
इस घर को आते समय

---

1. एक अरण्य पुष्प, 2. एक स्वादिष्ट देहाती साग

क्या उसने सोचा था कभी कि
जड़ को उखाड़कर आना होगा!
बीच दरिया में तैरती नाव
एक दिन लौट आती है तट को
शायद एक दिन कादंबिनी भी लौट आएगी पीहर!

प्रमोद सर

एक अलहदा सुबह की लड़की

(एक)

पालतू बनने पर लोग कहेंगे
घरेलू मैना
उड़ना शुरू करने पर अघोरी कबूतर
जूड़ा बाँधने पर लोग कहेंगे
सुंदरी, परी
बिखरी रहने पर भूतनी, गणिका
जलने पर लोग कहेंगे
सहनशील सती
मरने पर नारी
जीव के लिए अड़ जाने पर
असती नारी
कहने पर मरी

निंदा में अस्थिर मत होना बेटी
प्रशस्ति में इतराना मत
पुराने छल को नापना सीखना
चूल्हे पर न जलकर छप्पर पर जलना
प्रतिवाद चाहे जितना हो अर्थहीन
प्रतिवादी बनना
अग्नि-परीक्षा के अपमान को आग में बुझाना
गुस्से में फट मत पड़ना
आकाश रोएगा!
निश्चिंत सो मत जाना री
पृथ्वी जलेगी!
धूप में, बरसात में, ठंड में, प्रेम में
भीगना सीखना।
आँसू में, ख़ून में, पसीने में, सुहाग में
ज़हर पीकर अमृत बाँटना

ओड़िया रचनाकार प्रमोद सर का जन्म 1968 में हुआ। इनके पाँच कविता-संग्रह और दो आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 244, डी.डी.ए. फ़्लैट्स, लाडो सराय, नई दिल्ली 110030

अनु. सुजाता शिवेन

तैरते बादल को
आ, आ कहकर पुकारना सीखना
यज्ञस्नेही नहीं
यज्ञसेनी होना
सती नहीं
सीता होना।

(दो)

दूर आकाश में उड़ते पंछी को देखकर
बोली, "मैं पंछी बनूँगी पापा
आकाश में उड़ना सीखूँगी!"

पंछी ही मानव का मुक्तिद्वार है बेटी
पंछी होना ही है जीवन की आदिम व्याकुलता
उसी के पंख में छिपी हुई है तुम्हारी दुर्वार अभिप्सा
उसी की आसमानी आँखों में भरा हुआ है नीले दिगंत का स्वप्न

उसी की पुकार में होता है सूर्योदय
उसी की चोंच में है जोड़ देने की रंगीन नीरवता!

जीवन और क्या माँगता है
इसी तरह स्पंदित स्वप्न एक
उड़ पाने की अभिप्सा एक
छू पाने की नीरवता एक
पुण्य उदार स्वप्न एक!

जिस दिन मौनी पहाड़ के चरणों में
टूटे हुए स्वप्न को पीटकर हम इकट्ठे रोए थे
उस दिन तेरी माँ, पास के पेड़ के पंछी को दिखाई थी
उसी ने हमें स्वप्न देखना सिखाया
नीरवता को बचाना सिखाया
नीड़ बनाने की कला सिखाई
कविता सिखाई

कविता उतना माँगती है—
लँगड़े पंछी की कुहू तान में
गाया जा सकता हो दूर आकाश का गीत
गहरी नीरवता के आँसू में
खिल उठता वांग्मय गुलाब
पेड़ पंछी के गीत में से
सुनाई पड़ती हो परम पंछी की पुकार

आम्रकुंज के वैतालिक में
पुलक उठेगा प्रभात का फल

सो जाने की नौबत कहाँ!
मन मारने की रात कहाँ!
नीड़ एक बनाना होगा
उड़ना सीखना होगा
गीत एक गाना होगा
अंततः पंछी इतना सिखाएगा!

हमेशा ऐसे ही पंछी होने का दावा करना बेटी
आकाश में उड़ने को दरकिनार करना
अपने अंदर उड़ना सीखना
परम पंछी की पुकार सुनना
देखोगी
कितनी सहजता से वह कह रही है जीवन की
असीम अभिलाषा
कितने प्रेम से जोड़ रही है मुक्त आत्मा का
अनजाना इतिहास!

(तीन)

ओ मेरे हँसते दुख के घनीभूत श्यामल पहाड़
ओ मेरे रोते हुए नीले रक्त प्रवाहित धूसर शहर
ओ मेरे प्रकंपित स्वप्न गढ़े सुवासित सुंदर सुबह
ओ मेरे गीले-गीले नीले रात्रि प्रकंपित विवस्त्र चकोर
ओ मेरे संपर्क के बहुविधि भाषा कोलाहलमय साँझ वेला
ओ मेरे गैरिक आत्मा की क्लांति निरासक्त निर्मेध आकाश
ओ मेरे सब्ज़ रक्त के शांति स्नेही पृथ्वी श्रावणी गुलाब
ओ मेरे अशांत चित्त असंयत श्रावण की आख़िरी दशा
ओ मेरे उदार संध्या आँसू भरे आकाश की प्रिय नीरवता
तुम्हें माँग रहा हूँ प्रिय दो, लौटा दो मेरी आत्मा को.
अनजाने अतिथि के द्वार पर बज उठे शुभ शहनाई

हे मेरे परिचित प्रिय शत्रु पिता-माता, सखा-सहोदर
आ रहा हूँ, रुको अनजानी पुलक में नाच रहा मेरा नीला अंतर
उड़ जा रे पंछी मेरा दूर देश दिग्वलय के नीचे
विजय निशान लेकर लौटना तू श्मशान की गोद में
तूफ़ान का प्रलय आए या आए युद्ध की अशांति
लौटना पंछी मेरे छूते हुए जीवन की छाती
धूप के आँसू में जहाँ जल रही है शहर की मिट्टी

एक बार लौटना पंछी गाते हुए गोधूलि का गीत
भूलना मत पेड़ नदी पहाड़ और आकाश की बात
जीवन का मीत ढूँढ़कर सँभालना सागर की भाषा नीरवता
वंचित शिशु के साथ में बहना मत भग्न निर्दयता
संचित छाती में एक बार बो देना प्रति परिभाषा
दुःसाहसी आत्मा मेरी रोना मत रात की रति में
सुबह आएगा फिर घर्षिता का पुण्य तनु किनारे

प्रेम कभी मर सकता है जरा-व्याधि मृत्यु के अश्लेष में
आग कभी बुझ सकती है रात भर बरसात और तूफ़ान में
पंछी कभी मन मारता है सीमाहीन निस्संग आसमान में
फूल क्या अनखिला रहता है निदारुण धूप के निःश्वास में?

श्मशान के आँगन में देख रही हो बेटी खिला है कदंब
जीवन की मृत्यु कहाँ है या कहाँ है रात का आरंभ!

मानस रंजन महापात्र

पतवार

हर पतवार में छुपा होता है
सपना एक नाव का
नींद एक नदी की
मग्न सहवास एक नाविक का।

समझ नहीं पाते इसे
नाव पर सवार लोग
समझ नहीं पाती हवा
होती हैं कितनी साँसें
किस पतवार में,
आँधी का सामना करने का साहस समेट
बढ़ती चलती है पतवार आगे से आगे
न पहचानती है उजाले को
न अँधेरे को।

पानी में तैरती नन्ही-नन्ही मछलियाँ
दोनों तटों पर मन-ही-मन मुस्कुराते पेड़
ना मालूम क्यों
नहीं चाहते पतवार को
पतवार तो एक महक है

ओड़िया कवि, उपन्यासकार मानस रंजन महापात्र का जन्म 1960 में हुआ। इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : नेशनल बुक ट्रस्ट, ए-5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली 110016

अनु. राजेंद्र प्रसाद मिश्र

एक अगाध जीवन
नहीं समझा पाती किसी को कुछ
पतवार
बस बिताती चलती है एकाकी
अपने तमाम दिन।

ब्रजनाथ रथ

अनेक सूर्यास्त के बाद

अनेक सूर्यास्त के बाद
एक दिन आएगा
जब सूर्य अस्त होगा
फिर सूर्योदय
होगा नहीं
इस जीवन में।

उसके बाद
केवल रातें
रातें ही रातें
तमिस्रा की सीमाहीन
अनंत विस्तृति
रहेगी चिरकाल तक।

इसलिए
आज ही मैं
संख्याहीन अजात सूर्य को
तेजोदीप्त कर गया
अपने ख़ून से
जीवन के सूर्यास्त के बाद
युग-युग तक
उगेगा जो पूर्वाशा के कपोल में।

ओड़िया के चर्चित कवि ब्रजनाथ रथ का जन्म 1936 में हुआ। इनके कई कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। ओड़िशा साहित्य अकादमी, विषुव पुरस्कार तथा अन्य कई संस्थानों से पुरस्कृत हैं। संपर्क : सुनहट, बालेश्वर 756002 (ओड़िशा)

अनु. विजय कुमार महांति का जन्म 1954 में हुआ। हिंदी और ओड़िया में कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : अध्यापक, हिंदी विभाग, महाराजा पूर्णचंद्र कनिष्ठ महाविद्यालय, बारिपदा, मयूरभंज (ओड़िशा)

तीन मुँह

पहला—
अंधकार के दर्पण में
देखा मैंने एक मुँह
जो था 'शैतान' का।



उसके बाद—
प्रकाश के दर्पण में
देखा मैंने एक मुँह
जो था 'देवता' का।

अंत में—
अंधकार और प्रकाश के
दो दर्पणों को एक साथ रखकर
जब देखा मैंने
तो मिला और एक मुँह
वह था मेरा अपना
एक 'मानव' का।

जीवन

जन्म मृत्यु के
दो प्रांत बिंदुओं को
स्पर्श करने वाली
एक वर्णमय वक्ररेखा;

जिस पर
अनगिनत 'कोष्ठक' की भीड़
सौ–सौ 'प्रश्नवाची' का समारोह
साथ ही

ढेर सारे 'विस्मय चिह्न' का
अनोखा जुलूस।

दिगंत की विहंगिनी

तुम्हारा केश-
        एक आकाश;

तुम्हारी आँखें-
        दो नील पारावार;

तुम्हारे होंठ-
        एक दिगंत;

और तुम
दिगंत से नील पारावार पर
आकाश की ओर उड़ जाने वाली
एक बहुरंगी विहंगिनी

जिसे मैं
पकड़कर भी पकड़ नहीं सका,
पकड़ने को जाकर
उस होंठ के दिगंत में
खो गया,
उन आँखों के पारावार में
डूब गया,
और उस केश के आकाश में
स्वयं अपनी सत्ता को
ढूँढ़ पाने में
नाकाम रहा।

पृथ्वी

लड़की एक,
जिसके चेहरे पर
रूप-सागर की तरंग;
एक आँख में उसकी
सूर्योदय
और दूसरी आँख में
सूर्यास्त।

हाथों में
अंजुलि भर सुमन
समय के।
कंठ में केवल
जीवन-जिज्ञासा से
मुखरित
अहो-रात्र के
करुण संगीत।

शैलबाला महापात्र

लोरी

सँभाल के रखी है
अभी तक जीवन की
सारी गर्मी

जानती हूँ :
तुम्हारे साथ मुलाक़ात होने पर
पुनरावृत्ति होगी
पृथ्वी पर
और एक
पुण्यमय पाप की

आदिम

इतने आकाश
इतने सागर
बीच में मैं :
नित्य नितंबिनी
आँखों में—
निर्वाक् पूस
कंठ में
अमुआ डाल की कोयल
नीरव अनातुर प्यास

चिर मैथुन की विभोर
मुद्रा में
वेलाभूमि की उन्माद नर्तकी

ओड़िया कवयित्री शैलबाला महापात्र का जन्म 1960 में हुआ। दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : शीला चिन्मय, टिकरापारा, इंद्रद्युमन चौक, पुरी-752002 (ओड़िशा)

अनु. सुजाता शिवेन का जन्म 1962 में हुआ। इनके अनुवाद पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 49-बी, रानी विला, गणेश नगर एक्सटेंशन-2, गली नं. 2, शकरपुर, दिल्ली-110092

मैं
खुलती जा रही मेखला में
लूँगी बाँध अनंत सागर
स्रोत बहा लेगा
झीना उत्तरीय
पवन गा रहा होगा
कोई आदिम ओंकार
प्रणय संगीत!

दर्पण

बात तो यह हुई थी कि...
हर पूर्णिमा की रात
तुम्हारे सीने पर होगा मेरा सिर
बालों पर आहिस्ता
फिर रही होगी उँगली तुम्हारी

अब पूर्णिमा नहीं
हर चाँदनी रात में



गहराता है मेरा घाव
पूर्णिमा तक बाक़ी रहती
सीने के नीचे कुछ तिलमिलाहट
और रिसने के लिए
बचा हुआ ख़ून

सपनों की हड्डी गिनते-गिनते
कैसे बितानी होती है रात
मुझे पता है
मैं कवि
कंकाल के पिंजर को
पहना देती हूँ
जीवन की छवि
फिर उसके बाद
पहले की तरह ही
आता है सूरज
पक्षी गाता गीत
फूल भी खोलता अपनी आँख

मैं
अपनी ही लाश को कंधे पर ढोए
मिटा देती हूँ खड़िया की लकीर
फिर एक पूरी चाँदनी रात से
करने के लिए मुलाक़ात

कुमार हसन

वे जो भुवनेश्वर के नहीं हैं

वे जो भुवनेश्वर के नहीं हैं
दिल्ली के भी नहीं हैं

यह बात अलग है कि
दोनों के बीच है एक छोटा-सा गाँव

जो गाँव के नहीं हैं
वे शहर के भी नहीं हैं

यदि विरोध में नहीं हैं
तो समर्थन में भी नहीं
किसी के विरोध में या समर्थन में
निश्चित होने तक
चुन लेना होता है एक रास्ता
निष्क्रिय निरुपद्रव यानी मौत
जो मौत के नहीं हैं
मांदल! वे जीवन के भी नहीं हैं

हिंदी-ओड़िया रचनाकार कुमार हसन का जन्म 1960 में हुआ था। इनकी लगभग 35 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। ओड़िशा सरकार तथा अन्य संस्थानों से पुरस्कृत हैं। संपर्क : मनीषा इंटरनेशनल, भूतापारा, संबलपुर-768001 (ओड़िशा)

अनु. सुजाता शिवेन

जो गीत गाना नहीं जानते
वे मूक नहीं हैं
या चलना नहीं जानने वाले
अपाहिज नहीं हैं

मृत कभी दिखाते नहीं सपने
जो सपना देखना जानते हैं, वे जानते हैं लड़ना

ख़राब लड़की

ख़राब लड़की का
सबसे बड़ा गुण यही है कि
वह कभी सपना नहीं देखती
भागते भूत के लंगोट के पीछे
भागती नहीं ख़राब लड़की

ख़राब लड़की अपने को कभी
उफ़नते समुद्र के हरित द्वीप
या जलते रेगिस्तान के
नखलिस्तान नहीं समझती

ख़राब लड़की सोचती नहीं
जो मन में आता बोल देती खरी-खोटी
उसकी ज़ुबान पर नहीं होती लगाम

ख़राब लड़की जो चाहती, वही करती
अपने को छिपाती नहीं
सात समंदर की परत के पीछे
चाँद-सूरज की तरह देख सकते हैं उसे
बिलकुल सिर के ऊपर पहुँच की दूरी से परे

ख़राब लड़की का कोई दुश्मन नहीं होता
वह सभी से करती प्यार
वह है वर्गहीन संपूर्ण साम्यवादी

ख़राब लड़की को सभी ख़राब कहते
ख़राब लड़की कभी टूटती नहीं
वह कोई ख़्वाब नहीं है
ख़राब लड़की माइक पर
तेज़ आवाज़ में बजता एक लोकप्रिय गीत है

ख़राब लड़की का क्या तीज क्या त्यौहार?

कल रहूँगा मैं

मैं आज जहाँ-जहाँ नहीं हूँ
कल वहाँ-वहाँ होऊँगा
कल सुनना मेरा गीत

सुबह के पहले पहर में
तुम्हारी चाल पर
कोयल बन बोलूँगा
तुम्हारी पत्नी-बच्चों के सामने
गौरैया बन नाचूँगा

तुम मुँह से ना सही
मन ही मन बोलोगे
तुम्हारे पाँव में ना सही
दिल में होगा मेरा नाच
जो कुछ कह नहीं सका अब तक
वह सब कहूँगा

आज तुम सब जो मेरा नाम
सुनकर उछलते हो
कल करके याद
भरोगे आह।

रामचंद्र नाथ

सबमें नहीं होता

हर आँख में नहीं होता प्यार
हर होंठ में नहीं होता रंग
हर आँचल में नहीं होता यौवन
घूँघट में बँधकर नहीं रहता
अनकहा समय।

हर प्यार में नहीं होता समर्पण
हर नज़र में नहीं नाचती
विदेशी शराब की बोतल
हर देह में नहीं खिलता फूल
हर रंग में नहीं होता गाढ़ापन।

हर घर नहीं जलता आग से
जैसे हर मन नहीं जलता गुस्से से

ओड़िया कवि रामचंद्र नाथ की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 129-बी, शाहपुर जट, नई दिल्ली 110049

अनु. राजेंद्र प्रसाद मिश्र

हर बारिश नहीं छूती मन को
जैसे हर आशा
नहीं मुरझाती कच्ची उम्र में।

हर रिश्ते में नहीं होता अपनापन
हर उजाले में नहीं छिपता अँधेरा
हर मन नहीं ढूँढ़ता हृदय
हर रात नहीं आता सपना
हर दीये से नहीं होता जागरण।

किंतु सबमें होता है
कुछ अकेलापन।

साँझ

अभी-अभी
विसर्जित कर आया सूर्य को
नदी के उस पार
तुम्हारी बाड़ी के लंबे ताड़ के नीचे
छुआ था पहले पहल जहाँ
तुम्हारे मन-हृदय को
गोधूलि बेला में।

विधवा नारी के
सफ़ेद आँचल से होकर
अभी-अभी छुपा है सूर्य
उसके अधसूखे जलावन से
जलते चूल्हे के धुएँ से
गाँव के श्मशान के उस पार
हरिजन टोले की
ढिबरी के उजाले में
दप्-दप् करती
आ रही थी साँझ
गाँव के चौपाल की
भजन-संध्या में
जहाँ से धर्मं शरणं गच्छामि
पसर जाती है योजन तक।

हर साँझ
सिमटे बिना

दीये की बाती में
काश, हो जाती प्रखर
लकड़ी की आग-सी फैलकर,
दमक उठता
तुम्हारा चेहरा
उस प्रकाश में
चमकता है जैसे
मंदिर के
नारियल पेड़ पर
पूनम का चाँद।

के. श्यामबाबू दोरा

रास्ता पार हुआ है मेरी पीठ पर

इस ओर के इसी रास्ते
मेरे पहुँचने के ढेर पहले
अंकित हो चुका होगा
मेरा पदचिह्न न
इस पर पाँव थोपे चलने के सिवाय
और कोई गति अंतर नहीं।

उस ओर का रास्ता सारा खाँव्-खाँव्
मेरे बिना जैसे आग बरसती होगी
धार-धार
मेरा स्वागत करने को
अपेक्षारत
सुसज्जित फूल तोरण
अब अलस तोड़ते होंगे
सूने मध्यांतर में।

उस ओर के रास्ते के अंतिम छोर पर
पहुँच जाने के बाद
प्रार्थना की अब्यवहिति पहले ही
मुझे अर्पण किया गया होता शायद
स्वप्नमय उड़न सिंहासन
धुएँ का एक जोड़ी हाथ।

इस ओर के रास्ते में
आघ्रात ख़ाली आघ्रात।

के. श्यामबाबू दोरा आधुनिक ओड़िया कविता का जाना-माना नाम है। इन्हें ओड़िशा साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिल चुका है। संपर्क : लक्ष्मी बेंगल्स, जनाना हॉस्पिटल रोड, ब्रह्मपुर (गंजाम) 760001 (ओड़िशा)

अनु. महेंद्र शर्मा का जन्म 1944 में हुआ। कहानी-संग्रह, सौंदर्य शास्त्र की पुस्तकें प्रकाशित हैं। ओड़िया-हिंदी में परस्पर अनुवाद की पुस्तकें भी प्रकाशित हैं। संपर्क : एन, 6-503, आई. आर.सी. विलेज, भुवनेश्वर-15, फ़ोन-(0674) 2360542

फिर भी इस रास्ते
कहाँ है मेरी चीन्हारी ?
मैं तो उस ओर के रास्ते ही
चल आया हूँ अब तक
सीमांत के पास आकर सकारण की तरह
अकारण रुक गया हूँ।

मैं एक साथ
दोनों ओर के रास्ते चला हूँ
स्वप्न की तरह सिंहासन पर विराज
काँटों का आघात सहा हूँ।

सचमुच मैं क्या कभी
पार कर सका हूँ कोई रास्ता
अंततः अपने भीतर ?

वरन् रास्ता ही मुझे रास्ता कर
पार हुआ है मेरी पीठ पर।

सौभाग्यवंत महारणा

जीवन विषय में कुछ कहो

जीवन विषय में कुछ कहो तुम
मेरे साथ बातचीत करते समय
इस जन कोलाहल भीतर नीरवता का केंद्रबिंदु तलाशने।
सिर्फ़ रक्त-मांस-हाड़ के समन्वय में
तुम्हारी देह सजी
ये बात किसी से छिपी नहीं है।
मनुष्य में तब्दील होने की बात पशुत्व भीतर से
तुम अस्वीकार करते हो किसलिए
मैं जान नहीं पाता।

तुम्हारे दो सौ छह टुकड़े हाड़ की गुफा में
तुम ही अधीश्वर अँधेरे संग हाथ मिला
काल से काल चाँदनी रात खोजते इस माटी में
फिर भी तुम ही अचीन्हे हो गए हो
तुम्हारे जीवन समीप
आलोक की कोमलता भेद न पाकर।
पवन के खेल चीन्हे क्या
तुम्हारी एकाकीत्व भीतर

सौभाग्यवंत महारणा का जन्म 1951 में हुआ। इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और कई संस्थानों से पुरस्कृत हैं। संपर्क : प्रशासनिक अधिकारी, भारतीय जीवन बीमा निगम, मंडल कार्यालय, संबलपुर (ओड़िशा)

अनु. महेंद्र शर्मा

मनुष्य का निष्पंद करुण संगीत सुने क्या
तुम्हारे राग-अनुराग बीच?

अंततः जीवन विषय में कुछ कहो
मृत्यु की परिचर्या करने से पहले।
अनाहार से कंकाल सार में बदले
रास्ते किनारे के उस भिखारी बच्चे के बारे में कुछ कहो
मनुष्य के पास
इस झूठे माया संसार में
तुम्हारी आँखें मुँदने के पहले।
मेरे साथ बातचीत में
बीत गई है तुम्हारी आधी आयु।
और आधी आयु अंततः
जीवन और मृत्यु संग समझौता कर
निज को सजा लो
दुखी मनुष्य से प्रेम करने
इतिहास को और एक बार तलाशने।

मेघ

मेघ फाँक में गड़गड़ाहट
का डमरू बजाना
बहुत ज़रूरी था क्या मेरे लिए?
मेरे मन की भीतरी बात
आकाश समझ नहीं पाया
उसके संग इतनी घनिष्ठता होते हुए भी
बचपन से सूर्य के शहर में घूमते समय।

बाल्य चपलता भीतर
अपने को रंगीन पतंग मान
उड़ा था बहुत दूंर
आकाश की नील व्याप्ति में दिगंत छूने।
मेरी सरलता बीच
शैतानी भरी थी
मेघ संग लुका-छिपी खेलने
अपने को एक पतंग समझने के बाद
लट्टू से डोरी टूटते वक़्त
मेरी दौड़-धूप बीच
पहुँच चुका था मैं समुद्र वेला में अकेले-अकेले।
जितनी चेष्टा की भी

जीवन रहस्य भीतर उलझ
मेघ से मुक्ति पा सका नहीं
पतंग मेरी उड़-उड़ आकाश का नील कलेजा चीर
आह बह गया समुद्र के अतल जल में!
बुला रहा था हाथ हिलाते
अपने साथ खेलने लुका-छिपी
जीवन के भासमान समुद्र में
अकेले-अकेले नाविक होने को।

मुझे मालूम नहीं
अपने को मुकुलित करने से पहले
कब से मैं
मेघ भीतर बंदी हो गया था।

आशुतोष परिड़ा

फिर भी

कह नहीं पाया हूँ मैं वह बात कि
टेढ़े न हो जाएँ शब्द कहीं
आकाश न टूट पड़े
चर न जाए कहीं
मृत लोगों को घास!

घाव जब दिखते हैं फूल-से
उसके गर्भकेशर में
कीट घुस आते हैं बनाते
अपने-अपने घर
उसके भीतर एक पकी गंध लिए
हँसता है अंधकार
अभिशप्त एक इलाक़े में होते हैं
समस्त मिट्टी और बीज
जन्म देने को विषवृक्ष
वहाँ शून्य हो जाता है मस्तिष्क
इंसान रूपांतरित होता है कीड़े में
फिर कीड़े से सरीसृप में।

भयंकर सरीसृप
छिपे होते हैं गह्वर में
जत्थे-जत्थे बाहर निकलते हैं
पीने को ख़ून

आशुतोष परिड़ा का जन्म 1946 में हुआ। इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। ओड़िशा साहित्य अकादमी तथा कई पुरस्कारों से सम्मानित हैं। संपर्क : 503, रिजनल रिसर्च लैबोरेटरी, भुवनेश्वर-13 (ओड़िशा)

अनु. महेंद्र शर्मा



चबाने को हड्डियाँ
खा जाने को सारी पोशाकें
बंदूक़ की गर्दन तक को।

मनुष्य फिर भी रहता है
जूझता
कीड़े सरीसृपों से
जूझता प्राचीन एक घृणा सहित
फिर भी
ज़िंदा रहता है मनुष्य।

झूठ

हमारे सिवाय और कौन जानता है
झूठ भी हो सकता है
इतना पवित्र
और हमारे लिए गढ़ दे
एक पवित्र देश!

हमने पानी के साथ पिया झूठ
हवा सहित खींच लिया साँस में
खाद्य में खाया उसे
नींद में सोया
पोशाक में पहना

सिर पर बाँधा
और उसकी गंध से प्रतिपल
हुए जर्जरित

स्तूप पर स्तूप
जमे झूठ के पहाड़,
कोई उसे खोद-खाद
ढूँढ़ने चला रत्न
कोई उस पर चढ़कर
पकड़ने चला नक्षत्र
कोई नीचे गिर
चबाने लगा मिट्टी पत्थर
झूठ ने थामे रखा हमें
स्तर प्रति स्तर।

कौन जानता है
कब झूठ का प्रथम बीज
रोपा गया इस ज़मीन पर
छल का प्रथम फल
पका था पेड़ की डाल
जब देवता गण
हज़म कर रहे थे मनुष्य का हाड़-मांस
घुस गए थे सभी देवालयों में
फिर झूठ पवित्र हो गया था
प्रार्थनाओं में।

झूठ के सम्मुख हमने
समर्पण किए अश्रु और आयु
कितने गड्ढों के भीतर
धँसे पाँव
कितने शून्य के भीतर
उलझ गए माथ
झूठ हम ढो चले काल-काल
झूठ के भीतर आवाजाही का हमारा संसार।

झूठ ने बाँधे रखा है हमें
झूठमूठ के परिचय में
आ पहुँचे अगर
एक सच
जाएँगे हम चिथड़ बिखर
कौन किधर।


YOGENDRA
KANDPAL

जीलानी बानो

यह कौन हँसा?

सुखू ने हाथ फैलाए और वह एक जादूनगरी में पहुँच गया। दूर खड़ा उसका बाप दुखू देख रहा था कि उसका बेटा अब अगला क़दम कहाँ रखेगा।

"यह क्या है बाबा?" सुखू ने हैरान होकर पूछा।

"यह राजा का महल है।" दुखू ने कहा।

"मगर तुम भी तो यहीं रहते हो?"

"इतने ज़ोर से मत बोलो। अगर तुम्हें यहाँ किसी पहरेदार ने देख लिया, तो बाहर निकाल देंगे।"

"नहीं बाबा, मैं तो अब यहाँ से कभी नहीं जाऊँगा!" सुखू मचल गया। इतना ख़ूबसूरत बाग़ उसके बाप ने सजाया है। इतना शानदार महल उसकी माँ ने बनाया है। फिर तो इस महल में उसी को राज करना चाहिए। सुखू को यक़ीन नहीं आ रहा था कि बाबा के सूखे, काले हाथ इतने रंग-बिरंगे फूल खिला सकते हैं। सारा बाग़ महक रहा था। ख़ूब ठंडी हवा चल रही थी। रंगीन फ़व्वारों से भीगी हुई हरियाली...कच्चे-पक्के फल!

"बाबा...क्या यह आम बहुत मीठे हैं?" सुखू ने पके आमों की तरफ़ हाथ बढ़ाकर पूछा।

"मुझे नहीं मालूम इनका मज़ा! मैंने यह फल कभी नहीं चखे! ख़बरदार जो तूने उन्हें हाथ लगाया। यह फल हमारे नसीब के नहीं हैं बेटे!"

"अच्छा..." सुखू ने मायूसी के साथ चारों तरफ़ देखा।

"यहाँ इतना सन्नाटा क्यों है बाबा? इस बाग़ में चिड़िया क्यों नहीं चहचहातीं?"

"यहाँ...यहाँ चिड़िया नहीं चहचहातीं। बच्चे नहीं हँस सकते! यह राजा का हुक्म है।"

"राजा का हुक्म है...!" सुखू ने ताज्जुब से राजा के ऊँचे महल की तरफ़ देखा, "मगर मुझे तो राजा के इस हुक्म पर हँसी आ रही है बाबा!"

"ऐसा ग़ज़ब मत करना!" दुखू ने जल्दी से बेटे के मुँह पर हाथ रख दिया।

"सौ बरस हो गए, इस महल में कोई नहीं हँसा। यहाँ हँसना जुर्म है।"

ग़ालिब पुरस्कार, सोवियत भूमि पुरस्कार, साहित्य अकादेमी पुरस्कार एवं पद्मश्री से सम्मानित उर्दू रचनाकार जीलानी बानो का जन्म 1936 में हुआ। इनकी उपन्यास और कहानी-संग्रह की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : 71, हांडा हिल्स रोड, 12, बनजारा हिल्स, हैदराबाद-500034 (आं.प्र.)
फ़ोन : 23314077

अनु. सुरजीत की उर्दू, डोगरी, अंग्रेज़ी, पंजाबी से हिंदी में अनूदित लगभग 50 पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : सी-34, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, फ़ोन : 25938533

"वाह...कितने मज़े की बात है! सौ बरस से इस महल में कोई नहीं हँसा!"

"हा हा हा...हा हा हा...हा हा हा!" सुखू के कहकहे...धाँय...धाँय...धाँय...अचानक सारे महल में धमाके-से गूँजे।

सुखू के कहकहे दरो-दीवार से ऐसे टकराए, जैसे बम फट पड़ा हो। लोहे से ढाली हुई महल की दीवारें रेत की तरह गिरने लगीं और राजा का सिंहासन डोलती नाव की तरह डोलने लगा। हँसी की आवाज़ सुनते ही ख़ौफ़ के मारे राजा काँपने लगा।

नाच-रंग में मदहोश राजकुमार शराब के जाम फेंककर भाग खड़े हुए। ख़ुशियों के हिंडोले में झूलती हुई राजकुमारियाँ चकराकर गिर पड़ीं। दूध और इत्र में नहाई सोलह सिंगार किए, बाल-बाल में मोती पिरोए, सोने की छप्परखट पर सोने वाली रानियाँ चीख़ मारकर उठ बैठीं।

"यह कौन हँसा?...यह कौन हँसा?" सब मिलकर चिल्लाने लगे।

महल के दरो-दीवार काँप रहे थे और पूरा महल पानी में तैरने वाली काग़ज़ की नाव की तरह हिचकोले खा रहा था।

संतरी जी दोपहर का खाना खा रहे थे, मगर अजीबो-ग़रीब आवाज़ पर चौंक पड़े।

"यह कैसी आवाज़ है?" उन्होंने महल के मुहाफ़िज़ (संरक्षक) गार्ड को फ़ोन किया।

"अभी मालूम करते हैं सरकार...ऐसी आवाज़ तो हमने भी महल में कभी नहीं सुनी!"

चारों तरफ़ भगदड़ मच गई। शायद किसी जादूगर ने मंत्र फूँका है या किसी दुश्मन के जासूस ने बम फेंका है।

"अब क्या होगा? आज महाबली के जन्मदिन के शुभ अवसर पर यह अपशकुन?"

दुखू माली दोनों हाथों से सिर थामे बैठा था कि अब क्या होगा? इस महल में सौ बरस से लागू क़ानून उसके बेटे ने तोड़ दिया था, हालाँकि उसने बेटे को रोका था कि यहाँ हँसना जुर्म है।

"बाबा! मेरे हँसने पर तुम इतने परेशान क्यों हो गए?" सुखू ने घबराकर पूछा, "यहाँ हँसने की मनाही क्यों है, बताओ न मुझे?"

"यह बहुत पुरानी कहानी है, बेटा!" दुखू ने रूमाल से अपने आँसू पोंछकर कहा।

"इस महल का राजा इतना अहमक था कि उसके सिर पर दो सींग उग आए थे। बबन हजाम जब उसकी हजामत बनाने गया, तो राजा के सिर पर सींग देखकर उसे हँसी आ गई। तब राजा ने दीदे निकालकर ग़ुस्से में कहा, "ख़बरदार, जो मुझे देखकर कोई हँसा! आज से मैं अपनी तमाम प्रजा पर हँसी हराम करता हूँ। अगर मेरे सिर पर सींग उगने की बात तुमने किसी से कही, तो मैं शहर के सभी हजामों का क़त्ल करवा दूँगा!"

मगर हँसी रोकते-रोकते बबन हजाम के पेट में दर्द होने लगा। मजबूरन उसने जंगल में जाकर एक गड्ढा खोदा और उसमें मुँह डालकर ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा और दिल की भड़ास निकालने के लिए चिल्लाने लगा, "राजा के सिर पर सींग हैं। राजा के सिर पर सींग हैं!"

"फिर थोड़े दिनों के बाद उस गड्ढे में से एक अखवा फूटा और एक दरख़्त उगा। उसमें बेशुमार फूल खिले। हर फूल एक बच्चे की शक्ल का था, जो सुबह सवेरे खिलता था और ज़ोर-ज़ोर से गाता था, "राजा के सिर पर सींग हैं। हा हा हा...राजा के सिर पर सींग हैं..."

तब राजा ने मीटिंग बुलवाई, जिसमें मुल्क के सारे डॉक्टर शरीक हुए। एक मेडिकल बोर्ड अमेरिका भेजा गया कि वह बच्चों की हँसी ख़त्म करने की दवा ले आएँ, क्योंकि अब महल में जितने राजकुमार पैदा हो रहे थे, उनके सिर पर सींग थे।

"मगर राजा के सिर पर सींग क्यों होते हैं, बाबा?" सुखू ने हैरान होकर पूछा।

"राजकुमार जो हैं, राजा की क़िस्मत लेकर पैदा होते हैं। इसलिए भगवान उन्हें आम लोगों

से अलग बनाता है। इसीलिए तो बादशाह ताज पहने रहते हैं, ताकि उनके सींग किसी को नज़र न आएँ।''

''तो फिर बादशाहों के बच्चों को स्कूल में दूसरे बच्चे सताते होंगे?''

''ऊँह...तू पागल है निरा!'' दुखू ने सिर पीट लिया। ''कहीं बादशाहों के बच्चे स्कूल जाते हैं? उन्हें पढ़ने-लिखने की क्या ज़रूरत है? वे तो बादशाह हैं!''

''अच्छा।'' सुखू मान गया, ''फिर... ? फिर क्या हुआ बाबा?''

''सुना है, अमेरिका में डॉक्टरों ने ऐसी दवा बना ली है, जो उम्मीद वाली माँ को खिला दो, तो उनके बच्चे रोते ही रहते हैं! हँसना भूल जाते हैं!''

''फिर... ? फिर क्या हुआ?'' सुखू अपने सामने डोलते-काँपते महल को देख रहा था।

''फिर वह दवा अमेरिका से हवाई जहाज़ में भर-भरकर आने लगी और मुल्क में जितने बच्चे पैदा होते हैं, वे ज़िंदगी भर रोते ही रहते हैं। राजा भेष बदलकर रातों को शहर में घूमता रहता है कि किसी बच्चे के हँसने की आवाज़ तो नहीं आ रही है!''

सुखू को फिर हँसी आने लगी, मगर उसने अपनी हँसी रोककर कहा, ''मगर बाबा, फिर मुझे हँसी क्यों आती है? क्या माँ को वह इंजेक्शन नहीं लगवाया था?''

''मैंने तो ख़ुद जाकर तेरी माँ को इंजेक्शन लगवाया था, मगर ग़रीबों को तो यह हर बात में यूँ ही टरका देते हैं न! तेरी माँ को भी किसी डॉक्टर ने नक़ली इंजेक्शन दे दिया। इसीलिए तेरे होंठों पर हँसी ज़िंदा है!''

जब सज़ा का हुक्म सुनाने के लिए सुखू को दरबार में लाया गया, तो नन्हा-सा सुखू सज़ा का ख़ौफ़ भूल गया। आँखें फाड़े चारों तरफ़ देख रहा था। महल की सजावट देखकर हैरानी के मारे उसका मुँह खुला हुआ था। राजा ने बहुत-से चेहरे काटकर फ्रेमों में सजाकर महल की दीवारों पर जड़ दिए थे। ये सब राजा के वह बुज़ुर्ग थे, जिनके सिरों के सींग हीरों वाले ताज के नीचे छुपे होते थे। अब वह इत्मीनान से सोने-चाँदी वाले तख़्त पर बैठा मूँछों को ताव दे रहा था और उसके क़दमों तले क़ुसूरवार प्रजा सिर झुकाए अपनी ग़लतियों की सज़ा सुनने के इंतज़ार में खड़ी थी।

राजा ने सोचा, पहले प्रजा को ख़ुश करने के लिए उनमें ख़ुशियाँ बाँटनी चाहिए। बाद में उस हँसने वाले अपराधी को सज़ा दूँगा। उसने कहा, ''महामंत्री, लिखो!'' और महामंत्री चाँदी के फ्रेम वाली तख़्ती पर सोने के क़लम से लिखने लगे।''आज हम अपने सभी मंत्रियों को आज़ादी देते हैं।'' यह सुनते ही सभी दरबारी ख़ुशी के मारे तालियाँ बजाने लगे।

''आज वे अपनी प्रजा के साथ मनमाना सुलूक कर सकते हैं। अपनी प्रजा को ख़बरदार करते हैं कि हमारी इस कृपा से फ़ायदा उठाएँ, वरना उन्हें सख़्त सज़ा दी जाएगी!''

छोटा-सा सुखू सिर उठाए राजा के ताज को घूरे जा रहा था, जिसके नीचे दो सींग छुपे हुए थे। इस बात को याद करके उसे फिर हँसी आने लगी, मगर उसने बड़ी मुश्किल से अपने आपको सँभाला। फिर जब महाराजा की जय-जयकार के नारे लग रहे थे, तो वह भी सबकी आवाज़ में अपनी आवाज़ मिलाकर चिल्लाया, ''महाराजा की जय!''

''अब हम सब राजकुमारों को इनाम देंगे, क्योंकि वे जो काम करते हैं, वह बहुत अच्छा होता है, क्योंकि उनकी रगों में शाही ख़ून दौड़ रहा है और जिसकी रगों में शाही ख़ून हो...''

''और जिसके सिर पर दो...'' मगर दुखू ने जल्दी से सुखू के मुँह पर हाथ रख दिया, ''क्या तेरी शामत आई है?''

एक बार फिर हॉल तालियों से गूँज उठा। सुखू की छोटी-सी ताली देर तक बजती रही।



''महामंत्री लिखो...आज हम उन सब उद्दंड बाग़ियों को सज़ा देंगे, जो नई-नई बातें सोचते हैं। ख़तरनाक स्कीमें बनाते हैं। आज हम उनके नसीब का फ़ैसला करेंगे। हमारे मुल्क में अपराधियों की तादाद बढ़ती जा रही है, लेकिन हमारे होते हुए उन्हें नरक की ओर जाने की क्या ज़रूरत है... ?''

तालियों से फिर सारा हॉल गूँज उठा।

''अब तुम लोगों को अंदाज़ा हो गया होगा कि हम अपनी प्रजा का कितना ख़याल रखते हैं। हमारे दादा ने हँसी जैसी ख़तरनाक चीज़ को अपने मुल्क से मिटा देने के लिए अमेरिका से दवा मँगवाकर मुफ़्त बाँटी थी, क्योंकि हँसी बहुत ख़तरनाक चीज़ है। यह सारी बुराइयों की जड़ है। हँसने वाले लोग बड़े ख़तरनाक होते हैं। वे हर बात की हँसी उड़ाते हैं!''

''और राजा के सिर पर...'' सुखू ने फिर कुछ कहना चाहा, मगर दुखू ने फिर उसके मुँह पर हाथ रख दिया।

''चुप...चुप...''

अब राजा छोटे-से सुखू की तरफ़ मुड़ा, ''तूने हमारे महल में क़दम क्यों रखा?''

''मैं देखना चाहता था कि यह महल मेरी माँ ने कैसा बनाया? मेरे बाप ने यहाँ कितने फूल खिलाए?''

''अच्छा...! तू महल देखना चाहता था! माली का बेटा होकर महलों के ख़्वाब देखता है! तुझे इसकी सज़ा मिलेगी, जो आदमी हमारे उसूलों से बग़ावत करता है, हम उसको कड़ी सज़ा देते हैं।''

''बग़ावत!...बग़ावत क्या होती है महाराज?'' सुखू ने हैरानी से पूछा।

''ऐसा काम, जो हमें पसंद न हो!''

''तो फिर मैंने ऐसा कौन-सा काम किया है, जो आपको पसंद नहीं आया?''

''यह हमने अभी तय नहीं किया है।'' महाबली ने गरदन ऊँची करके कहा।

''मगर आप कौन होते हैं मुझे सज़ा देनेवाले?'' सुखू ने ग़ुस्से में कहा।

''अरे चुप... !'' दुखू घबरा गया। सारे दरबारी हैरान होकर सुखू को देखने लगे।

''यह तुझे अभी मालूम हो जाएगा कि हम कौन हैं! अरे छोकरे, तू क्या जाने कि हमारे बाप-दादा ने क़त्लो-ग़ारतगरी का कैसा तूफ़ान उठाया था इस शहर में...इसीलिए तारीख़ में उनका नाम सुरक्षित हो गया है।''

''मुझे माफ़ कर दीजिए सरकार!'' सुखू ने घबराकर कहा, ''मैं आपसे इंसाफ़ माँग रहा हूँ!''

''अच्छा...! तू इंसाफ़ माँगेगा!'' महाराजा ने दीदे निकालकर कहा।

''याद रखो, इंसाफ़ माँगने वाले ग़द्दार होते हैं।'' फिर महाराजा ने दरबारियों की तरफ़ देखकर कहा, ''बदतमीज़ लड़के को किसने महल में आने दिया? क्या तुम सबकी आँखें नहीं थीं, जो दिखाई नहीं दिया कि अंदर कौन आ रहा है?''

"सरकार, आपके हुक्म के मुताबिक सारे दरबारी अपनी आँखें बंद रखते हैं। अपने कान बंद रखते हैं।"

"बहुत अच्छा करते हो तुम! सब बहुत अच्छा करते हो...यह अहमक लड़का नहीं जानता कि हम अपनी प्रजा के सुख की ख़ातिर क्या-क्या करते हैं!"

"सुख!...सुख क्या होता है?" सुखू ने हैरान होकर पूछा, क्योंकि उसने दुख के सिवा और मज़ा नहीं चखा था।

महाराजा ने बड़े ग़ौर से सुखू को देखा। यह फितना अभी से सिर उठा रहा है। यह हँसता है। सोचता है। ग़ौर करता है। सुख और दुख के मायने पूछता है। ऐसे ख़तरनाक बच्चे अगर हमारे मुल्क में पैदा होते रहे, तो मुल्क का बेड़ा ग़र्क़ हो जाएगा।

"तुम्हें इस महल का रास्ता किसने दिखाया था?" महाराजा ने गरजकर पूछा।

"किसी ने नहीं महाराज! मैंने एक ख़्वाब देखा था कि मैं..." सुखू ने डरते-डरते कहना शुरू किया।

"ख़ामोश!" महाराजा ने घबराकर कहा।

"हमारे मुल्क में ख़्वाब देखना जुर्म है!"

"महामंत्री!...आईंदा से हर पैदा होनेवाले बच्चे का दिमाग़ निकाल दिया जाए? ताकि वे सोचना छोड़ दें!"

"जी...जी...सरकार! मगर शायद महाबली को यह नहीं मालूम है कि हम तो ऐसी दवा बाहर से मँगवा चुके हैं, जिसे खाने के बाद इनसान सोचना छोड़ देता है। शायद महाबली ने ग़ौर नहीं किया कि सब राजकुमार हर वक़्त अपनी क़िस्मत की तरह सोए रहते हैं। उठते हैं, तो फिर इस दवा की एक चुटकी माँगते हैं।"

"तो फिर इस बच्चे को वह दवा क्यों नहीं खिलाई गई?" महाराज ने ग़ुस्से से पूछा।

"यह सब खोट और मिलावट का असर है महाबली! ग़रीबों तक तो हर चीज़ मिलावट वाली ही पहुँचती है।"

"अच्छा, तो अब हम इस लड़के को मौत की सज़ा देते हैं। क्योंकि इसने हमारे मुल्क में सौ साल से लागू क़ानून को तोड़ा है। हम अपनी प्रजा के साथ इंसाफ़ करते हैं। इसलिए इस बच्चे



से पूछते हैं कि उसकी कोई आख़िरी ख़्वाहिश है, तो पूरी की जाएगी!"

मौत की ख़बर सुनने के बाद नन्हा सुखू बाप से लिपटकर रो पड़ा। फिर अपने आँसू पोंछकर बोला, "हाँ, मेरी एक ख़्वाहिश है। मैं चाहता हूँ कि इस मुल्क के सब बच्चों को इकट्ठा करके आप ताज पहने बग़ैर अपना सिर उन्हें दिखा दें!"

बनमाली विश्वाल

बीच

दामोदर। यही कोई पैंतीस वर्षीय युवक। नाम से तो पुरुष लगता था। सारे परिधान भी उसके पुरुषों की ही तरह थे, परंतु इन परिधानों से भी उसका नारीत्व साफ़ झलकता था। आचार, विचार, वाग्व्यवहार, रहन-सहन तथा चाल-ढाल—सभी में दामोदर के हाव-भाव नारीवत् होते थे।

दामोदर का विवाह पच्चीस वर्ष की आयु में हुआ था किंतु एक माह के भीतर ही उसकी पत्नी अपने मायके वापस चली गई थी। लगभग दस वर्ष व्यतीत होने को आए लेकिन वह उससे एक बार भी मिलने नहीं आई। आती भी कैसे? दो वर्ष बाद ही तो उसका दूसरा विवाह भी हो गया। दामोदर को छोड़कर उसकी पत्नी कैसे चली गई, यह बात केवल या तो वह जानती थी या फिर दामोदर ख़ुद। बाक़ी किसी को कुछ भी नहीं पता था।

गाँव में अकसर लोग ऐसी चर्चा करते थे कि उसमें पुंसत्व नहीं है। कारण जो कुछ भी हो, लेकिन पत्नी द्वारा परित्यक्त दामोदर ने कभी भी उसकी कमी का रोना नहीं रोया। यदि कभी किसी ने इसकी चर्चा भी छेड़ी तो वह अत्यंत उपेक्षा-भाव से कहता था, ''ठीक है चली गई तो चली गई! मुझे उसकी ज़रूरत ही क्या है? यदि वह यहाँ होती भी तो उसके लिए भी मुझे भोजन बनाना ही पड़ता। और अब? अब तो वह भी स्वतंत्र है और मैं भी।''

वस्तुतः विवाह के प्रसंग में प्रायः यह देखने में आता था कि दामोदर की रुचि कन्यापक्ष की अपेक्षा वरपक्ष में अधिक होती थी। उसकी स्वाभाविक अभिरुचि भी स्त्रीजनोचित कार्य में अधिक थी। वह अपनी मर्जी से रसोई में भोजन बनाता था। रसोई के लिए पानी लाता था, मसाला पीसता था। खाना पकाने के लिए ईंधन आदि संग्रह करता था। घर के शिशुओं को सुलाता और खिलाता था। यहाँ तक कि बच्चों के सोते समय 'लोरी' भी गाया करता था। यदि उसके दाढ़ी-मूँछें न होतीं तो शायद उसको कोई पुरुष मानता ही नहीं। स्त्रियों की ही तरह उसमें स्त्रियों के प्रति ईर्ष्या भी थी। वह सुंदर स्त्रियों को बर्दाश्त नहीं कर पाता था।

दामोदर यदि किसी विवाहिता या अविवाहिता को किसी पुरुष के संग प्रेमालाप करते देख लेता तो क्रोध से तमतमा उठता था। बिफर पड़ता था वह। बेचारा अपने घर में भी अपने भाई-भौजाई

संस्कृत के कवि तथा कहानीकार बनमाली विश्वाल संस्कृत व्याकरण के मर्मज्ञ हैं। इनकी कविता एवं कहानी की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, गंगानाथ झा परिसर, आज़ाद पार्क, इलाहाबाद 211002 (उ.प्र.)

अनु. उमेश दत्त भट्ट के हिंदी-संस्कृत में परस्पर अनुवाद प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 97/3 एफ़/1, शिवकुटी, कैवेलरी लाइंस, इलाहाबाद-211004

को साथ देखकर सहन नहीं कर पाता था। एक नहीं, अपितु अनेक बार भाभी से इस संबंध में उसका मनमुटाव हो चुका था। घर के सारे काम-काज दामोदर ही किया करता था, इसलिए भाभी उसकी इन सारी हरकतों को झेलने की न केवल अभ्यस्त हो गई थीं, अपितु इन दुर्व्यवहारों को सहने के लिए वह विवश भी थीं।

किसी लड़की की शादी का आयोजन होता तो दामोदर मन-ही-मन बड़ा व्यथित होता था। मानाभिमान से भरा वह महीनों उस लड़की के घर क़दम नहीं रखता था। लगता था जैसे वह अपने अवचेतन मन में किसी पुरुष से अपना विवाह करने की अभिलाषा रखता हो। इस कुंठा का विषाद ढोते-ढोते वह ईर्ष्यापरायण-सा हो गया था।

दामोदर नदी या पोखरों के स्नानघाट पर स्नान कर रही या बर्तन माँज रही स्त्रियों के साथ घंटों बैठकर पनचौरा करने में अपने को मशग़ूल रखता। किसके घर में क्या-क्या हो रहा है। किसके पौत्र होने वाला है अथवा किसके नाती। किसको बेटा हुआ है अथवा बेटी। किसकी लड़की कब ससुराल जाएगी या फिर किसकी बहू कब अपने मायके से ससुराल वापस आएगी, ऐसे सभी लेखे-जोखे उसकी ज़ुबान पर रटे रहते थे। मानो वह एक चलता-फिरता सूचना केंद्र ही था। दुर्भाग्यवश वह उस गाँव में प्रायः सभी के उपहास का पात्र था। उसको देखकर या उसकी नक़ल करके तो सभी ग्रामवासी प्रसन्न होते थे, पर उसके मन की व्यथा क्या है, कौन-सी वह पीड़ा है जो उसे अहर्निश सताती रहती है, इसकी चिंता किसी को कभी भी न होती थी। किसी ने कभी भी यह सोचने की ज़हमत ही नहीं उठाई।

दामोदर आदतन चंचल तो ज़रूर था किंतु स्वभाव से सरल एवं निष्पाप था। वह किसी का अनिष्ट करने की बात सपने में भी नहीं सोचता था। यथासंभव सबका उपकार ही करता था। यदि कोई थोड़ा भी समय देकर केवल उसकी बात सुन लेता था, उसकी भावना की क़दर किया करता था तो वह उसके समस्त कार्यों को हँसते-हँसते अपने सर-माथे उठा लेता था।

दामोदर के माता-पिता अपने पुत्र के लिए काफ़ी दुखी रहते थे। वे चिंता में डूबे रहते थे कि उसका वंश कैसे चलेगा? विदेशों में लिंग परिवर्तन भी किया जाता है, यह बात उन लोगों ने सुनी थी। यदि दामोदर का लिंग परिवर्तन हो जाए तो वह हमारी कन्या हो सकती है। और यदि वह पुत्र बन जाएगा तो उससे जो पुत्र होगा उससे दामोदर का वंशवृक्ष आगे बढ़ सकता है। लेकिन अमेरिका आदि देशों में जाकर लिंग परिवर्तन कराना अत्यंत ख़र्चीला है। मध्यम-वर्गीय होने के नाते दामोदर के माता-पिता के लिए इतने बड़े ख़र्च का बोझ उठा पाना मुमकिन नहीं था।

पुत्र की ऐसी अजीबो-ग़रीब अवस्था के विषय में सोच-सोचकर उनके माता-पिता डबडबाई आँखों से हँसकर बोलते, ''यह तो संसार है। ईश्वर की लीला भी बड़ी अपरंपार है यहाँ सब कुछ उसकी इच्छानुसार ही होता है। बस उसी की यह मर्ज़ी है—जो पुरुष की आकृति लेकर नारी तथा नारी की आकृति लेकर पुरुष विचरण कर रहे हैं। भगवान शिव स्वयं महेश्वर होते हुए भी अर्धनारीश्वर थे। किंतु थे सपत्नीक। और दामोदर! वह तो न नारीश्वर है और न ही अर्धनारीश्वर। लेकिन फिर भी ईश्वर की इच्छा हुई तो वह नरेश्वर अवश्य हो सकता है।'' इस तरह वे अपने को समझाया करते थे।

आगामी नगर महापालिका के चुनाव हेतु शासक-दल की तरफ़ से सभासद् के रूप में उसका नामांकन कराया गया है। चुनावी आँकड़ों के अनुसार तो वह इस पद पर विजयी भी होगा—ऐसी चर्चा का बाज़ार नागरिकों के बीच ज़रूर गर्म है। और कहीं यदि ऐसा हो गया तो इसका यह जो किन्नरत्व दोष है वह अपने आप ख़त्म हो जाएगा। इस तरह वह भी किन्नरत्व से नरत्व को प्राप्त कर लेगा।

अशोक बाचुलकर

अपना घर

अप्रैल ख़त्म हुआ था। वैसे मई के दूसरे सप्ताह में ही बोआई शुरू हो जाती थी। लोगों ने खेती-बाड़ी जोतकर तैयार रखी थी। कंडे-लकड़ी आदि जलावन घर में या घर के पिछवाड़े में बनी मड़ैया में रखा जा रहा था। कभी-कभार आकाश में बादल मँडराते देखकर लोग घबरा जाते। अगर आकाश बरसने लगेगा तो जलावन फिर से सुखाना पड़ेगा। लेकिन कहाँ? इसलिए सभी जल्दी में थे। वैसे गाँवों में शादी-ब्याह अप्रैल तक संपन्न होते थे। मुश्किल से एक-दो शादियाँ मुहूर्त न होने पर देर से होती थीं। वैसे वो भी मई के पहले सप्ताह तक निपटा ली जाती थीं। एक तो गाँवों में पानी की कमी, दूसरा मई में अगर बारिश गिरने लगी तो मेहमानों का ठहरना, उनके लिए भोजन बनाना, पंगत बैठने में मुश्किलें आ जातीं। और एक बात कि बोआई शुरू होने पर लोग नहीं मिलते थे। सभी अपने-अपने कामों में जुट जाते। शादी में सम्मिलित होने के लिए लोगों को फ़ुर्सत ही नहीं मिलती थी।

मेरी मौसेरी ननद की शादी थी। सो हमारा पूरा परिवार हफ़्ते भर के लिए पास ही के उनके गाँव में था। खेती के काम ऐसे ही पड़े थे। शादी, पूजा हुई, तब छुटकारा मिला कामों से। वहाँ से आए तो खेती के कामों में जुट गए। सुबह जल्दी उठकर खाना बनाकर खेत में जाना पड़ता था। कड़ी धूप में काम करके शरीर का रंग ही बदल गया था। दिनभर काम करके घर आकर फिर रसोई में काम करना पड़ता था।

हर दिन की तरह मैं भोजन बनाकर ओसारे में आ गई। दूरदर्शन पर 'फ़ौजी' सीरियल चल रहा था।...भारतीय जवान को गोली लगती है और वह वीरगति को प्राप्त होता है।

सुबह जल्दी उठकर ससुर, देवर और भाँजा खेत में गए थे। क़रीबन साढ़े नौ बजे मैं उन्हें कलेवा देकर घर आ रही थी। सिर पर सरकंडों से भरी बड़ी टोकरी थी। पीछे-पीछे हमारा कुत्ता शेरू था। खेत में आते-जाते समय एक गली पार करनी पड़ती थी। रास्ते में ही इनके मामा का घर पड़ता था। मैंने देखा, लोग दौड़ते हुए यहाँ-वहाँ आ जा रहे हैं। चार-पाँच के समूह में कानाफूसी हो रही है। मुझे देखकर लोग सहम गए। मैं कुछ समझ नहीं पाई।

अशोक बाचुलकर का जन्म 1973 में हुआ। मराठी से हिंदी अनुवाद प्रकाशित हैं। हिंदी अकादमी से सम्मानित हैं। संपर्क : हिंदी विभाग, आजरा महाविद्यालय, आजरा-416505 (महा.)

अनु. स्वयं

इनके मामा के घर काफ़ी भीड़ इकट्ठी हुई थी। मुझे देखकर औरतें सहम गईं। सभी ने चुप्पी साध ली। सभी के मुँह जैसे सी दिए गए हों।

''क्यों क्या बात है?'' मैंने पूछा।

......

''आप सब ऐसे चुप क्यों हैं?''

.....

''इस तरह मुझे घूर क्यों रही हैं?''

इनकी मामी आगे बढ़ी। उसने मुझे गले लगाया और रो पड़ी।

''हाय किसकी नज़र लग गई तेरी गृहस्थी को। तेरे पति को गोली लगी है। अभी-अभी फ़ोन आया है...कि उसकी...मृत्यु हो गई।''

कुछ समझने के पूर्व ही मैं बेहोश हो गई। ननद कह रही थी कि बेहोशी में ही मुझे वहाँ से लाया गया। डॉक्टर ने इंजेक्शन दिया तब होश आया। घरवालों का चीख़ना-चिल्लाना देखकर मैं बार-बार बेहोश होती रही। यह क्रम निरंतर दो दिन तक चलता रहा। जब तक उनका शव नहीं आया।

शव लेकर छह जवान और अधिकारी तथा ज़िले के पुलिस अधिकारी के साथ कुछ पुलिसकर्मी भी आए थे। बेलगाम पहुँचने पर टेलीफ़ोन आया था कि ''हम 40 मिनट में पहुँच रहे हैं, तैयार रहिए।'' चिता पहले ही तैयार करके रखी थी।

जैसे ही शवपेटिका खोली गई, मैं दहाड़ मारकर रो पड़ी। फिर ग़श खाकर गिर पड़ी। घरवाले उनकी सूरत तक ठीक से देख नहीं पाए। अंतिम समय में घर के बाहर स्नान कराने की घरवालों की इच्छा तक पूरी नहीं हो पाई।

सभी रिश्तेदार पहले ही जमा हो गए थे। अर्थी श्मशान की ओर चल पड़ी। बहुत-से लोगों ने फूल-मालाएँ अर्पित कीं। इलाक़े के कई नेता हाज़िर थे। क़रीबन दो हज़ार की भीड़ इकट्ठी हुई थी। गगनभेदी नारों से आकाश गूँज रहा था। सैनिक अधिकारी ने सरकार का पत्र पढ़ा। अनेक स्वयंसेवी संगठनों ने कुछ राशि घोषित की।

मेरी चूड़ियाँ तोड़ी गईं। माथे का सिंदूर मिटा दिया गया। गले का मंगलसूत्र तोड़ा गया। मैं यंत्रवत् सब सहन कर रही थी। केवल आँखें खुली थीं। मैं बार-बार ग़श खाकर गिर रही थी। लोग समझाते। माँ ने मेरी एक बाजू को कसकर पकड़ा था। सास की दशा तो और भी ख़स्ता थी।

देवर ने चिता को अग्नि दी। मैं एकटक ज्वालाओं को निहार रही थी। लग रहा था ये लपटें मुझे भी घेर लेतीं तो कितना अच्छा होता।...पूरी ज़िंदगी सामने पड़ी है। क्या होगा, कैसे होगा?

चार-पाँच दिन तक लोगों का ताँता लगा रहा। मैं चुपचाप शून्य में नज़र लगाकर बैठी रहती। खाना-पीना, बोलना, सोना जैसे भूल बैठी थी। बिस्तर में लेट भी जाती तो लगता कि किसी ने सीने पर भारी बोझ रखा है। सुबह उठना। मुँह धोना। चाय पीना। घुटनों में सिर रखकर खोए-खोए बैठे रहना। घर के बाक़ी लोगों की भी यही हालत थी। सास जी और देवर मेरे पास ही बैठे रहते। मुझे साहस बँधाते। ज़बरदस्ती कुछ खिलाते-पिलाते।

तेरहवीं हुई। मैं धीरे-धीरे नॉर्मल हो गई। माँ तेरहवीं को आई थी। रात में उसने सास जी से कहा, ''मैं पंद्रह-बीस दिन के लिए निर्मला को साथ ले जाना चाहती हूँ।''

''अभी लोगों का मिलने के लिए आना बंद नहीं हुआ है।...उन्हें हम क्या जवाब देंगे। और हफ़्ता-दस दिन गुज़रने के बाद इसके पिता को भेज दीजिएगा, ले जाएँगे।''

घर के लोग धीरे-धीरे सँभल गए। छोटे-मोटे काम शुरू हो गए। मुझमें तो घर से बाहर निकलने की हिम्मत ही नहीं थी।

दस दिन बाद मैं पिता जी के संग गाँव चली गई। मेरी सहेलियाँ आतीं। बातें करतीं। दिल

बहलाने की कोशिश करतीं। परंतु मेरा मन वहाँ नहीं लग रहा था। मैं चुप्पी साधे बैठी रहती।

"अरी, क्या सोच रही है ?" मीनाक्षी ने पूछा।

"अब सोचने को रहा ही क्या है ?"

"निर्मला सँभल जाओ, कितने दिनों तक ऐसी ही बैठी रहोगी! कुछ तो बोलो !...तुझे याद हैं वो कॉलेज के दिन!"

"मीनाक्षी अब उसकी चर्चा करने से क्या फ़ायदा!"

माँ पिता जी से कह रही थी।

"मेरी सुनी नहीं। अब पछताने से क्या फ़ायदा। तभी कह रही थी उस मलटेरिया से मत करो शादी। इस फ़ौज की नौकरी का कोई भरोसा नहीं। कर दी न मेरी बेटी की ज़िंदगी बर्बाद। अभी समय है। उसका अबॉर्शन करा दो। मेरे भाई का बेटा अभी भी तैयार है उससे शादी करने के लिए ।"

"तुम बस भी करोगी!"

"हाँ उस वक़्त भी ऐसे ही कहा था। मुझे चुप बैठने को कहा और मेरी बेटी का सत्यानाश कर दिया। क्या देखा है अभी उसने। अभी से उजड़ी हुई माँग लेकर रहेगी मेरी बेटी!" कहकर माँ रो पड़ी।

मीनाक्षी चुपचाप खिसक गई।

मेरी आँखें डबडबा आईं। बस फूट-फूटकर रोना शेष था। पर मैं रोई नहीं। छोटे भाई प्रवीण से कहकर एक ख़त का लिफ़ाफ़ा मँगवा लिया।

चार दिन बाद ससुर जी और देवर पहुँच गए। उनके आते ही मैं सामान बाँधने लगी।

"अरी निमा तू क्या कर रही है ?"

"माँ, मैं इनके साथ अभी जा रही हूँ।"

"परंतु तू तो कुछ दिन और रहना चाहती थी न ?...और वहाँ अब क्या रखा है तेरा ?"

"माँ, सास, ससुर, देवर ये सब मेरे तो हैं। जिन्होंने उन्हें अपनी कोख से जन्म दिया है, उनकी दशा क्या हो गई होगी ? माँ सच कहूँ, अब मुझसे एक पल भी यहाँ नहीं रहा जाता। और तुम अबॉर्शन की बात कह रही थी न! माँ मेरे पेट में पल रही यह उनकी आख़िरी निशानी है। इसे मैं बुझने नहीं दूँगी।"

माँ अवाक्-सी मेरी तरफ़ देखती रही। उसके कुछ समझने से पहले ही मैंने सामान उठाया। देवर ने आगे बढ़कर मेरे हाथ से सामान ले लिया।

घर का वातावरण बदल गया है। मैं खुलापन महसूस कर रही हूँ। एक दिन मेरी बड़ी ननद को बुलाया गया। रात में खाना खाने के बाद हम सब इकट्ठे बैठे थे।

ससुर ने बात शुरू की, "निर्मला, पूरी तरह सोच लो। हम सबने सोच लिया है। अब फ़ैसला तुम्हारे हाथ है। तुम पर कोई ज़बर्दस्ती नहीं है।"

"क्या बात है ? आप इस तरह क्यों कह रहे हैं ?"

"निर्मला हम सब चाहते हैं कि किसन के साथ तुम्हारी शादी कर दें। वह तैयार है।"

मैं हतप्रभ-सी रह गई। क्या करूँ... ? क्या यही मेरी नियती है ?

"भाभी, चलो उठो खाना खाओ। यह अच्छा है! उधर टी.वी. शुरू और इधर तुम्हारे खर्राटे। यह देखो, मिठाई और रुपए, भैया के सत्रह मराठा से पड़ोस के गाँव का सुहास आया है। उसके हाथ भैया ने भिजवाए हैं।"

देवर किसन ने मेरे हाथ पर बर्फ़ी का टुकड़ा रख दिया। और यह क्या ? मुझे कब नींद आ गई ?

चंचल कुमार घोष

प्रूफ़रीडर

रुग्ण, मझोला क़द, सिर पर काले-सफ़ेद केश, मटमैले रंग का आँखों पर मोटे फ्रेम का चश्मा, कम क़ीमत की धोती-क़मीज़, कंधे पर लटकता हुआ झोला, कुल मिलाकर ग़रीबी की स्पष्ट छाप।

इस व्यक्ति को सबसे पहले देखा था हरिनाथ बाबू की दुकान पर। हरिनाथ बाबू श्रीगुरु पुस्तकालय के मालिक हैं। बाङ्ला पुस्तकों के नामी-गिरामी प्रकाशक।

वर्षा का दिन। मेघों से भरा आकाश। कल सारी रात वर्षा हुई थी। इस वक़्त भी चारों ओर आर्द्रता का अहसास है। इस समय पुस्तक-बाज़ार में ग्राहकों की वैसी भीड़ नहीं होती है। एक तरह की शून्यता का आभास है।

काउंटर पर दो लड़के बैठे हुए हैं। मैं भीतर हरिनाथ बाबू के साथ गप-शप कर रहा था। उनके प्रकाशन से मेरे तीन उपन्यास निकल चुके हैं। उनकी बिक्री भी ठीक ही हुई है। इस समय हरिनाथ बाबू मेरी ख़ूब ख़ातिरदारी कर रहे हैं। बातें पुस्तक पढ़ने को लेकर हो रही हैं।

"आपको पता है, पुस्तकों की बिक्री पहले की अपेक्षा बढ़ जाने पर भी, पुस्तक पढ़ने का अभ्यास धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। पहले दोपहर में लड़कियाँ और बहुएँ खाना-पीना समाप्त कर लेटे-लेटे पुस्तकें पढ़ा करती थीं, अब टी.वी. देखती हैं।"

मैंने हामी में सिर हिलाते हुए कहा, "आप ठीक कह रहे हैं हरिनाथ बाबू। इसके अलावा लोगों को अवकाश मिलना भी अब इतना कम होने लग़ा है कि लगता है कुछ दिन बाद रह ही न जाएगा।"

काउंटर पर बैठे हुए एक लड़के ने किसी से कुछ कहा। शायद कोई ग्राहक आ गया है। सिर घुमाकर देखा, कोई व्यक्ति इधर ही आ रहा था।

सड़क पर कीचड़ था। दुकान एकदम साफ़-सुथरी और सूखी थी। हरिनाथ बाबू ने थोड़े ज़ोर से कहा, "जूते बाहर ही उतारकर आना निमाई बाबू।"

समझ गया कि उस आदमी का नाम निमाई बाबू है। शायद जूते पहने हुए ही भीतर आ रहा था। तुरंत बाहर जाकर जूते उतारकर

बाङ्ला कथाकार चंचल कुमार घोष की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : आर.ई-8/1, रघुनाथपुर, देशबंधु नगर, कोलकाता-700059
फ़ोन-25005744

अनु. रामशंकर द्विवेदी का जन्म 1937 में हुआ। बाङ्ला से हिंदी में अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हैं। समीक्षा, निबंध, संस्मरण एवं शोध की पुस्तकें प्रकाशित हैं। साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित हैं। संपर्क : 1260, नया रामनगर, पाठक का बग़ीचा के पास, उरई-285001 (उ.प्र.)

भीतर आ गया। कुछ न कहकर मेरी बग़ल वाली कुर्सी पर बैठ गया। मुझे लगा कि वह भद्र व्यक्ति थका हुआ था। कंधे का बैग उतारकर उसने टेबल पर रख दिया और कुछ पल के लिए चुपचाप बैठा रहा।

हरिनाथ बाबू ने पानी की बोतल आगे बढ़ाते हुए पूछा, "कितने प्रूफ़ लाए हैं?"

"तीन फ़र्मा लाया हूँ।"

हरिनाथ बाबू के चेहरे पर दबी हुई झुँझलाहट फूट उठी, "सात दिन पहले ले गए थे और पूरे प्रूफ़ समाप्त नहीं कर पाए हो!"

"शाम को रोज़ इतनी अधिक लोडशेडिंग हो रही है कि काम ही नहीं कर पा रहा हूँ।" भद्रपुरुष ने बैग से एक बंडल काग़ज़ निकालकर कहा, "बाक़ी सोमवार को दे जाऊँगा।"

"और देरी मत कीजिएगा। प्रेस का काम ही बंद हो जाएगा।" हरिनाथ बाबू ने उन प्रूफ़ों को ड्रॉअर में रख लिया था। लक्षित किया कि उस भद्रपुरुष के चेहरे और मुँह पर एक दबी हुई कुंठा है। शायद कुछ कहना चाहता था। शायद मेरे सामने कुछ कह नहीं पा रहा था। मैंने कहा, "हरिनाथ बाबू, तो मैं चलता हूँ।"

"अरे, बैठिए बैठिए! अभी तो आप आए हैं। निमाई बाबू आप फिर आइएगा।"

निमाई बाबू उठकर खड़े हो गए। दोनों हाथ छाती के पास रखकर दबी ज़बान से बोले, "आज अगर कुछ दे देते?"

"यही तो गत सप्ताह आपको रुपए दिए थे!"

निमाई बाबू थोड़ा इतस्ततः करते हुए बोले, "असल में मेरा हाथ एकदम ख़ाली है!"

हरिनाथ बाबू ने कुछ सोचा।

"मैं सब समझता हूँ। महीने का अंत है। हमारा भी हाथ ख़ाली है। आज तो मैं कुछ भी न दे सकूँगा। कल अगर एक बार आ सकें तो कुछ इंतज़ाम करूँगा। जो कुछ हो सकेगा, दे दूँगा।"

निमाई बाबू फिर कुछ नहीं बोले। सिर झुकाए हुए जैसे आए थे वैसे ही चुपचाप चले गए।

निमाई बाबू के जाते ही हरिनाथ बाबू ने मुँह घुमाया और कहा, "मेरे प्रूफ़रीडर हैं निमाई बाबू। उन्होंने ही आपकी पहलेवाली पुस्तकों के प्रूफ़ देखे थे।"

"लग रहा है ये भद्रपुरुष काफ़ी समय से आपके यहाँ हैं।"

"कहा जाए तो एक तरह से मेरा व्यवसाय शुरू होने के समय से ही। पहले बहुत अच्छा काम करते थे। आजकल तो उनसे मेरा काम ही नहीं चल पा रहा है।"

"क्यों?"

"असल में अब ये बहुत ढीले-ढाले हो गए हैं। पहले वर्ष में सिर्फ़ दो पुस्तकें निकल पाती थीं, अब दस पुस्तकें निकल रही हैं। सारा काम बड़ी जल्दी करना पड़ता है। किंतु, निमाई बाबू धीरे-धीरे पिछड़ते जा रहे हैं।"

"हाँ, उनकी उम्र भी तो हो गई है।"

"असल में ये शुरू से ही हमारे यहाँ हैं, इसीलिए मैं कुछ नहीं कह पा रहा हूँ।" मेरा मन बहुत ख़राब हो गया। कितने जतन से वे मेरी रचनाओं को छपने योग्य बना देते हैं। मैं उन्हें धन्यवाद तक न दे सका। मैंने पूछा, "यह भद्रपुरुष कहाँ रहता है?"

"श्याम बाज़ार में।"

"देखने से तो इनकी हालत अच्छी नहीं लगती है?"

"पहले चार-पाँच लोगों के पास प्रूफ़ देखा करते थे। अब बाज़ार में कई नए लड़के-लड़कियाँ आ गए हैं। आप समझ तो पा रहे ही हैं यह कंपिटिशन की मार्केट है। सभी लोग फटाफट काम चाहते हैं।"

सच ही तो है, समय आगे बढ़ता जा रहा है। ज़माना बदल रहा है। पुराने लोगों को हटाकर नए लोग सामने आ रहे हैं।

समय अधिक होता जा रहा था। इसलिए उठ पड़ा। दोनों तरफ़ पुस्तकों की दुकानें थीं। कितने

लोगों की भीड़ थी। बड़ी सड़क पार कर कॉलेज स्क्वायर के बीच से चलने लगा। यहाँ कुछ अधिक लोग इधर-उधर बैठे थे। अधिकांश लोग बेकार थे। हो सकता है कॉलेज से भाग आने वाले छात्र-छात्राएँ हों। सटकर बैठे हुए ये लोग भविष्य के सपने देख रहे हैं।

सरोवर पानी से लबालब भरा हुआ है। दो-चार लोग वंसी डालकर प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं कि कब मछली आकर उनकी वंसी में फँस जाएगी। धूप न होते हुए भी हवा में बड़ी गरमाहट है। थोड़ा जल्दी ही चला जा रहा था। बरसात के मौसम की वर्षा पता नहीं कब बिना कहे-सुने अकस्मात् होने लगे। शायद बचकर ही निकल जाता। रास्ते में भरे पानी को पार करते ही नज़र पड़ी कि एक बेंच पर बैठे हुए हैं निमाई बाबू। कपड़े का बैग पास में ही रखा हुआ है, चश्मा खोलकर बड़े उदास भाव से सामने की ओर देख रहे हैं।

"नमस्कार!"

निमाई बाबू ने झटपट चश्मा लगाकर मेरी ओर देखा। लगा जैसे पहचान नहीं पा रहे थे। उसके बाद ही बोल पड़े, "आपको हरिनाथ बाबू के यहाँ देखा था ना?"

मैंने अपना नाम बताया।

तुरंत निमाई बाबू ने मेरा हाथ पकड़ लिया।

"बैठिए, बैठिए! मैंने ही तो आपकी सारी पुस्तकों का प्रूफ़ देखा है। इस लाइन में आए मुझे कोई कम दिन तो हुए नहीं हैं। पहली पुस्तक पढ़कर ही हरिनाथ बाबू से कह दिया था, बड़ी अच्छी रचना है। देखिएगा, लोगों को यह बहुत पसंद आएगी। अब नया क्या लिख रहे हैं?"

"एक उपन्यास लिख रहा हूँ। ख़त्म होने को आया है।"

"बहुत अच्छा! लिखिए, लिखिए। जितना लिखते जाएँगे उतना ही देखेंगे कि आपका लिखना और उज्ज्वल होता जा रहा है। फिर भी आपकी वर्तनी बहुत कच्ची है। न और ण आप सदा गुड्डमड्ड कर डालते हैं, 'स' का भी गड़बड़झाला ख़ूब है।"

पहले परिचय में ही समालोचना। मन थोड़ा विरक्ति से भर गया। उस आदमी के प्रति जो भी संवेदना जागी थी, एक क्षण में ही जैसे ग़ायब हो गई।

"देखिए, लेखकों से वैसी एकाध वर्तनी की भूल हो ही जाती है। अगर आप वर्तनी के विषय में सोचेंगे तो फिर लिखने की बात सोच ही न सकेंगे।" बेंच से मैं उठ पड़ा।

"चलूँ, मुझे भी एक जगह जाना है।"

निमाई बाबू भी तुरंत उठकर खड़े हुए।

"आप मेरी बात से नाराज़ तो नहीं हो गए! उम्र हो गई है, पुरानी आदत है। आजकल कोई भी मेरी बातें सुनना नहीं चाहता है। सभी नाराज़ हो जाते हैं।"

देखा, निमाई बाबू तीव्र कुंठा के कारण एकदम अवसन्न-से हो गए हैं। नीचे झुक गई लता की तरह बैग को उठाकर उन्होंने अपना सिर झुका लिया। मन का क्षोभ दूर हो गया। कैसी तो ममता-सी हो आई उस आदमी पर। तुरंत कहा, "चलिए चाय पी जाए। यहाँ बहुत धूप है। सामने उस छाया में बैठेंगे।"

चायवाला घूमता हुआ चाय बेच रहा था। दो कप चाय लेकर पेड़ के नीचे जाकर बैठ गए। अब अच्छी तरह से उस भद्र व्यक्ति के चेहरे की ओर देखा। वृद्ध न होते हुए भी चेहरे पर बुढ़ापे के साफ़ चिह्न नज़र आ रहे थे। अभाव, ग़रीबी शायद व्यक्ति के यौवन को बड़ी जल्दी चट कर डालते हैं।

"कितने दिनों से आप इस लाइन में हैं?"

निमाई बाबू के चेहरे का विषाद भाव अब तक ख़त्म हो चुका था। धीरे-धीरे बोले, "अंदाज़न पैंतीस-छत्तीस वर्ष तो हो ही गए होंगे।"

''तो फिर, आपने बहुत-से लेखकों को तो देखा ही होगा।''

''हाँ, वह सौभाग्य तो मेरा रहा ही है। ताराशंकर, विभूतिभूषण, नारायण गांगुली, बनफूल इनकी निकटता प्राप्त हुई है। उनका काम भी किया है। जब इनका लिखा हुआ पढ़ता था, इनके हाथ के लिखे हुए के साथ मिलाकर प्रूफ़ देखा करता था। कैसा विचित्र रोमांच होता था। छापेख़ाने के लोग हरदम उनकी हस्तलिपि को समझ नहीं पाते थे। मुझे उनकी रचना को ठीक करना पड़ता था। कई बार पढ़कर लगता था, इस जगह भाषा ठीक नहीं है, अगर दूसरी तरह की होती तो अच्छा रहता। सब समय लेखकों से ही भेंट होती नहीं थी। दो-एक बार ख़ुद भी ठीक कर देता था। एक दिन ताराशंकर बाबू ने मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा था, 'तुम तो मुझसे भी अच्छा लिखते हो'।''

सहसा उदास हो गए निमाई बाबू। एक मधुर स्मृति क्षणभर के लिए उनके मन को जैसे दूसरे संसार में ले गई हो।

''तो फिर आपने लिखा क्यों नहीं?''

''बिलकुल इच्छा ही नहीं थी, ऐसा नहीं है। जब स्कूल में पढ़ता था कविता-कहानी लिखा करता था। दो कविताएँ, एक कहानी उन दिनों की मनोरमा पत्रिका में छपी भी थीं।''

''मनोरमा का नाम तो मैंने सुना भी नहीं है!''

''आपके जन्म से पहले ही वह पत्रिका बंद हो चुकी थी। फिर भी, उन दिनों उसे सभी लोग पढ़ा करते थे। मेरी कहानी पढ़कर कई लोगों ने प्रशंसा भी की थी। अगर मैं लगा रहता तो शायद नाम कर सकता था।''

''क्या कोई असुविधा थी?''

निमाई बाबू के दिल से एक लंबी साँस निकल पड़ी। कुछ पल चुपचाप सामने की तरफ़ देखते रहे।

''ख़ूब बचपन से ही सपना देखा करता था कि बड़ा लेखक बनूँगा। लेकिन परिवार! जब बाबा मरे तब मैं कॉलेज में भर्ती हुआ ही था। विधवा माँ और चार भाई-बहन। आर्थिक हालत भी वैसी कोई अच्छी नहीं थी। ज़िम्मेदारी मेरे ही ऊपर आ गई।''

''आप क्या सबसे बड़े थे?''

''हाँ, मेरे बाद दो बहनें उसके बाद दो भाई। सभी पढ़ रहे थे। नौकरी ढूँढ़नी शुरू की। उस वक़्त नौकरी का बाज़ार उतना ख़राब तो नहीं था। एक अच्छा काम मुझे मिल सकता था। किंतु, एक परिचित भद्रपुरुष ने यह प्रूफ़ देखने का काम लाकर दे दिया। फिर उसे छोड़ नहीं सका। अब कभी-कभी बड़ा अफ़सोस होता है। अगर नौकरी कर लेता तो अच्छा ही रहता।''

सहसा मेरी ओर देखकर निमाई बाबू थोड़ा हँस पड़े। ''यह देखिए पहले परिचय में ही मैं अपनी दुखद कहानी सुनाने लगा! आप अन्यथा तो नहीं लेंगे?''

''नहीं, नहीं, इसमें बुरा मानने अथवा अन्यथा लेने की क्या बात है! मुझे तो आपकी बातें सुनकर अच्छा ही लग रहा है।''

''अब तो मेरी बात कोई सुनना ही नहीं चाहता है। लोग सोचते हैं कि एक मामूली प्रूफ़रीडर क्या जानता होगा, बताइए तो?''

उनकी बात का मैं कोई जवाब नहीं दे सका। एक मामूली प्रूफ़रीडर—जिसका काम लेखकों की रचनाओं से छपी हुई सामग्री को मिलाकर देखना है, ग़लतियों को सुधारना और उनका संशोधन करना, बस इतना ही काम तो रहता है उसका। पुस्तक छपने के बाद उसका अस्तित्व लुप्त हो जाता है। सिर्फ़ लेखक और प्रकाशक का नाम रहता है, बाक़ी लोगों का तो कोई परिचय ही नहीं है।

बैग कंधे से लटकाकर उठ खड़े हुए निमाई बाबू।

''घर पहुँचकर फिर प्रूफ़ देखने पड़ेंगे। कई दिन हुए आँखें भी बड़ी तकलीफ़ दे रही हैं।''

''डॉक्टर को दिखा लीजिए ना!''

"इस बार तो डॉक्टर के पास जाना ही पड़ेगा। चलूँ। फिर भेंट होगी।"

दिन ढलने को था। देखा निमाई बाबू विद्यासागर की प्रतिमा की बग़ल से होकर, कॉलेज स्क्वायर का गेट पार कर विषण्ण, उदास भाव से ट्राम लाइन की तरफ़ चले जा रहे हैं।

आकाश में फिर काले-काले मेघ घिरआए थे। मैंने भी घर लौटने का रास्ता पकड़ लिया।

एक महीने तक फिर कॉलेज स्ट्रीट जाना नहीं हो सका। नए उपन्यास को ख़त्म करने में व्यस्त था।



अकस्मात् हरिनाथ बाबू का फ़ोन आया। दुकान का स्थापना दिवस है, उसमें मुझे आमंत्रित किया गया है।

दोपहर को वहाँ गया और भी कई लोग आए थे। मुझे देखते ही हरिनाथ बाबू बोले, "आपके नए उपन्यास का हालचाल क्या है?"

"और एक सप्ताह में ही आपको मिल जाएगा।"

"इच्छा है कि पूजा के पहले ही आपकी पुस्तक छाप दूँ। एक लड़का मिठाई और शरबत ले आया।"

"लीजिए! मैं अभी आ रहा हूँ।"

"हरिनाथ बाबू दूसरी तरफ़ चले गए और भी लोग आए हैं सभी को मुझे देखना होगा!"

देखा कि निमाई बाबू दुकान में आ रहे हैं। मुझे देखते ही हँसने लगे। ऐसा लगा जैसे उनका चेहरा विकृत हो गया हो।

"कैसे हैं?"

"वही, वैसा ही हूँ।"

"आँखें दिखाईं?"

"रोज़ सोचता हूँ, आज जाऊँगा, पर समय ही नहीं निकाल पाता हूँ।"

समझ रहा था कि अभाव के कारण ही डॉक्टर के पास नहीं जा पा रहे हैं निमाई बाबू। यह बात कहने में वे संकोच का अनुभव कर रहे थे। कुछ मदद करने की बात सोचते हुए भी मन पीछे हट गया। हो सकता है उस व्यक्ति के आत्मसम्मान को कोई ठेस पहुँचे।

कुछ पल निमाई बाबू बैठे रहे। काम करने वाला लड़का कुछ खाने को दे गया। हरिनाथ बाबू दो बार चक्कर लगाने गए। लक्षित किया कि वे निमाई बाबू को देखकर भी नहीं देख रहे हैं और भी लोग आते जा रहे थे। मैं निमाई बाबू के साथ ही निकल आया।

हम लोग कॉलेज स्ट्रीट पुस्तक पाड़ा से होकर जा रहे थे। सहसा निमाई बाबू कहने लगे, "इस मुहल्ले में जब पहले-पहल आया था, तब यहाँ कितनी दुकानें थीं! इतने आदमियों की यहाँ भीड़ भी नहीं होती थी। आँखों के सामने देखा यहाँ कितना क्या गढ़ उठा है। धीरे-धीरे यहाँ बहुत कुछ बदल भी गया। उन दिनों लेटर टाइप प्रेस एक-एक टाइप सजाकर छपाई होती थी। कितना अधिक वक़्त लग जाता था। अब तो कंप्यूटर के

द्वारा कितने थोड़े दिनों में एक पूरी पुस्तक ही तैयार हो जाती है।''

हँसते-हँसते मैंने कहा, ''सुनते हैं कि विदेश में ऐसे कंप्यूटर बन गए हैं, जिनमें लिखने पर वर्तनी, हाइफ़न, डैश, कॉमा सहित बिना किसी ग़लती के सबकुछ छपकर निकल आता है।''

निमाई बाबू थमकर रुक गए। कुछ पल आँखें फाड़कर मेरी ओर देखते रहे, फिर बोले, ''अगर कहीं मेरे समय में यह मशीन रही होती, तो फिर मुझे प्रूफ़रीडरी करते हुए जीविका न चलानी पड़ती। कोई एक अच्छी नौकरी करता।''

उसके बाद एक महीने तक फिर निमाई बाबू से भेंट नहीं हुई। एक दिन हरिनाथ बाबू से पूछा था, ''निमाई बाबू क्या अब नहीं आ रहे हैं?''

''बीच में एक दिन आए थे। उनसे अब मेरा काम चल ही नहीं पा रहा है। वही आदिम काल का सोच-विचार। डैश, कॉमा, फ़ुलस्टॉप, कॉलन, सेमीकॉलन, हलंत, विसर्ग उनके चलते इनमें से कुछ का भी इधर-उधर होने की गुंजाइश नहीं। सभी उनसे चिढ़ जाते हैं। अरे बाबा, लोगों को गल्प उपन्यास पढ़ना है, कहाँ कॉमा लगा है, अथवा कहाँ सेमीकॉलन लगना चाहिए—वह कोई नहीं देखता। इस बार सोच रहा हूँ, आपका उपन्यास प्रूफ़रीडिंग के लिए और किसी को दूँ।''

मेरे लिए कुछ कहने को था ही नहीं। मेरा काम तो लिखते जाने का है। बाक़ी काम तो प्रकाशक का है। उस बारे में अनाधिकार चर्चा न करना ही अच्छा है।

कुछ दिन बाद श्याम बाज़ार में एक मित्र के घर गया था। दोपहर में भोजन का निमंत्रण था। दोपहर ढले लौट रहा था। सहसा नज़र पड़ी धोती-क़मीज़ पहने वही निमाई बाबू हैं। चेहरे पर ख़ूब घनी दाढ़ी।

''इधर कहाँ?''

''एक मित्र के घर निमंत्रण था। आप इधर कहाँ जा रहे हैं?''

''यहीं तो मेरा घर है। इस गली के अंत में। इतने पास आकर इस ग़रीब की कुटिया में अपने पैरों की धूल क्या नहीं देंगे?''

कुछ ज़रूरी काम था, फिर भी ना नहीं कर सका।

''चलिए।''

निमाई बाबू के चेहरे पर हँसी फूट पड़ी।

''जानते हैं जीवनभर लेखकों के साथ ही तो काम करता रहा हूँ। लेकिन यह पहली बार मैं किसी लेखक को अपने घर ले जा पा रहा हूँ।''

दो गलियाँ पार कर पुराने ज़माने का दुमंज़िला मकान। निमाई बाबू की तरह की उम्र की मार से जीर्ण। पता नहीं कब से इस घर की मरम्मत नहीं हुई है।

सहन पार कर भीतर प्रवेश किया। कबूतरों के दड़बों की तरह छोटे-छोटे कमरे। समय के साथ परिवार बढ़ गया, सदस्य बढ़ गए, पर कमरे तो बढ़े नहीं। चारों ओर शोर-गुल-चींचीं-में-में।

निमाई बाबू के साथ पीछे चलता हुआ अंतिम छोर पर एक कमरे में घुसा। मध्यम आकार का कमरा। जंगला खोलते ही उजाले का एक पतला लंबा टुकड़ा कमरे में पसर गया। एक तरफ़ पुराने ज़माने की एक खाट बिछी हुई थी।

उसके ऊपर एक पतला गद्दा और चादर। चादर का रंग उड़ जाने से उसका असली रंग ग़ायब हो गया था। टूटी लकड़ी का ताक, छोटी-मोटी चीज़ें, टीन के दो बक्से। एक रस्सी पर कई कुर्ते और कपड़े लटके हुए हैं। सभी तरफ़ ग़रीबी और अभाव के स्पष्ट चिह्न। जल्दी-जल्दी चौकी के नीचे से एक स्टूल निकाल लिया निमाई बाबू ने।

''अकेले आदमी का कमरा, इसे तो आप समझ ही पा रहे होंगे!''

''यह क्या आपका ख़ुद का मकान है?''

''हाँ, पैतृक घर है। बारह कमरे और एक सहन। मेरे हिस्से में यही एक कमरा है।''

"अन्य सब लोग..."

"बहनों का विवाह हो गया है। भाइयों को नौकरी मिल गई है, वे दूसरी जगह चले गए हैं। अच्छा, शायद आपकी पुस्तक हरिबाबू प्रूफ़रीडिंग के लिए और किसी को देंगे?"

मुझे सब पता था, फिर भी कहा, मुझे ठीक-ठाक पता नहीं है।

कुछ क्षण चुप रहने के बाद निमाई बाबू बोले, "जानते हैं कभी-कभी बड़ा दुख होता है। सारे जीवन साहित्य की सेवा करते हुए आख़िर मुझे क्या मिला! आप तो लेखक हैं। बताइए तो, लिखते समय सब आप ठीक-ठाक लिख पाते हैं?"

निमाई बाबू की बात स्वीकार करनी ही पड़ी।

उन्हीं सब ग़लतियों को हम लोग ढूँढ़-ढूँढ़कर शुद्ध करते हैं। जीवन में कभी भी काम में छलावा नहीं किया। लेखकों की जो पुस्तकें हज़ार-हज़ार पाठकों के पास पहुँचती हैं, उनके पीछे हम लोगों का अवदान कुछ कम नहीं है। लेकिन क्या मेरी यह बात कोई स्वीकार करेगा? पुस्तक पर लेखक का नाम रहता है, प्रकाशक का नाम होता है, छापेख़ाने, यहाँ तक कि बाइंडर का नाम तक कहीं-कहीं रहता है, लेकिन प्रूफ़रीडर का नाम क्या आपने कभी देखा है?"

ख़राब लग रहा था, फिर भी कहना पड़ा, "कभी नहीं देखा है।" बड़ी करुण और विषादभरी हँसी फूट उठी निमाई बाबू के चेहरे पर। मैं बोला, "विवाह तो आपने किया नहीं है!"

"प्रूफ़ देखने से जो मिलता है, उससे एक अकेले का ही पेट अच्छी तरह नहीं भर पाता है। बीच में जिस लड़की को परिवार में ले आता, उसे भी तकलीफ़ ही होती। इसीलिए गृहस्थी नहीं बसाई।"

"प्रूफ़ देखने से आपको क्या मिल जाता है?"

"पहले तो प्रति पृष्ठ बीस पैसे मिलते थे, अब दो रुपए मिल जाते हैं।"

"कोई दूसरा काम करते तो इसकी अपेक्षा बहुत अधिक पैसे मिल सकते थे।"

"प्रयास करता तो शायद अच्छा काम मिल जाता, पर शुरू से ही यह काम इतना अच्छा लग गया था कि फिर और कहीं मन लगा ही नहीं सका।"

विभूतिभूषण ने एक बार मुझसे कहा था, "और कोई समझे या न समझे लेकिन मैं समझता हूँ। माँ के साथ संतान का जैसा संबंध होता है लेखक के साथ प्रूफ़रीडर भी वैसे ही एक होकर जुड़ा हुआ है।"

सिर नीचा कर मैंने कहा, "हम लोगों में से कोई भी विभूतिभूषण की तरह इतने बड़े मन का तो है नहीं, शायद इसीलिए आप लोगों को हम लोग उतना सम्मान नहीं दे पाते हैं।"

निमाई बाबू ने कोई जवाब नहीं दिया। शाम होने को आ रही थी। इसलिए उठकर खड़ा हो गया।

"आज तो मैं चल रहा हूँ, फिर और किसी दिन आकर पुराने दिनों की कहानी सुनूँगा।"

"आप पहली बार तो आए, चाय भी नहीं पिला सका। पता है ज़रा भी तेल नहीं है।"

उन्हें सांत्वना देते हुए कहा, "अगली बार जब आऊँ तब पिला देना।"

हरिनाथ बाबू से कहकर अपने उपन्यास की प्रूफ़रीडिंग का काम निमाई बाबू को दिला दिया। इच्छा थी कि निमाई बाबू को बिना बताए उनका नाम अपनी पुस्तक में छपवा दूँगा। अनिच्छा होते हुए भी हरिनाथ बाबू राज़ी हो गए थे। उसके बाद लगभग एक महीने तक फिर निमाई बाबू से कोई संपर्क ही नहीं हुआ।

पूजा पर्व आ गया था। शरत ऋतु के आकाश-वातास में नए आगमन का स्पर्श था। पाड़ा-पाड़ा में पूजा पंडाल बनाने का काम शुरू हो गया था। कॉलेज स्ट्रीट पाड़ा में भी महफ़िल ख़ूब जम रही थी। नई-नई पुस्तकें प्रकाशित होने वाली थीं। कुम्हार टोले में बननेवाली

प्रतिमाओं की तरह अंतिम रूप देने का काम चल रहा था। पुस्तकें छपकर बाइंडिंग के लिए जमा होनी शुरू हो गई थीं। दुकानों पर पत्र-पत्रिकाओं का आना शुरू हो गया था।

मेरी पुस्तक का काम ख़त्म हो चुका था। हरिनाथ बाबू की व्यस्तता बढ़ गई थी। उनके प्रकाशन से पूजा के अवसर पर छह पुस्तकें छपकर बाहर आएँगी।

एक काम से हरिनाथ बाबू की दुकान पर गया था। किसी से फ़ोन पर बात कर रहे थे।



इशारे से बैठने के लिए कहा। बात ख़त्म कर मेरी ओर देखकर कहा, "सभी पत्रिकाओं में इस बार आपकी पुस्तक का विज्ञापन दे रहा हूँ।"

"कब तक पुस्तक निकल रही है?"

"अगले सप्ताह में छप गई तो पूजा के पहले ही पुस्तक आ जाएगी।"

"निमाई बाबू का नाम तो उसमें है ना?"

"वह पृष्ठ अभी तक फ़ाइनल ही नहीं हुआ है। काम का बहुत दबाव है, दो-चार दिन में ही फ़ाइनल हो जाएगा। एक बुरी ख़बर है, निमाई बाबू का स्वास्थ्य बहुत ख़राब है। कई दिन पहले एक लड़का आया था। कुछ काग़ज़ थे, उन्हीं को उन्होंने भेजा था।"

"अब तबीअत कैसी है?"

"पता नहीं। सारा जीवन जिन भाइयों की देख-रेख की है, बहनों का विवाह किया है, वे भी उनकी कोई खोज-ख़बर नहीं ले रहे हैं।"

"उस आदमी को देखकर बड़ी माया होती है।"

हरिनाथ बाबू कोई जवाब दें, इसके पहले ही फ़ोन बज उठा। आजकल उन्हें बहुत काम है। बात करने के लिए उनके पास बहुत कम समय है।

कॉलेज स्ट्रीट से निकल कर ट्राम पकड़ ली। सीधे श्याम बाज़ार। पहले निमाई बाबू मुझे ख़ुद ही अपने घर ले गए थे। दो-तीन गलियाँ पार करने के बाद ही उनका घर था। ठीक-ठाक निर्णय नहीं कर पा रहा था। दो-एक लोगों से पूछ-ताछ करते ही एक लड़के ने कहा, "चलिए मैं निमाई ताऊ जी के घर आपको ले जाता हूँ।"

"तुम उन्हें पहचानते हो?"

"मैं तो उनके सामने वाले घर में ही रहता हूँ। ताऊ जी की तबीअत बहुत ख़राब है।"

"क्या हो गया है?"

"यह तो नहीं जानता। परसों डॉक्टर के पास गए थे। मैं रिक्शा बुला लाया था।"

घर के सामने पहुँचते ही पहचान गया। दरवाज़ा खुला हुआ था। लड़का उनका घर दिखाकर चला गया।

तख़्त पर लेटे हुए थे निमाई बाबू। नंगे बदन। लगा जैसे कोई कंकाल लेटा है। छाती की हर हड्डी गिनी जा सकती थी। दोनों आँखें गड्ढे में

धँस चुकी थीं। मुझे देखते ही धीरे-धीरे उठकर बैठ गए।

"आइए! आज सवेरे से ही आपकी बड़ी याद आ रही थी।"

"दोपहर में हरिनाथ बाबू के पास जाने पर पता चला कि आपकी तबीअत बहुत ख़राब है। अब कैसे हैं?"

"ठीक नहीं है। दिल में सदा दर्द होता रहता है।"

"डॉक्टर ने क्या कहा?"

"कई जाँचें और दवाओं की लंबी लिस्ट बनाकर दे दी। इतना पैसा कहाँ से लाऊँगा कि उन सब दवाओं को ख़रीद सकूँ।"

"लेकिन इलाज तो कराना ही पड़ेगा!"

"कल भतीजा आया था। कह रहा था कि अस्पताल में भर्ती करा देगा।"

"वह ठीक ही कह रहा था। यहाँ आपको देखने वाला तो कोई है नहीं। अस्पताल चले जाएँगे तो धीरे-धीरे अच्छे हो जाएँगे।"

"अब मैं कभी भी अच्छा नहीं होऊँगा। उस पार जाने की पुकार सुन पा रहा हूँ। पता है, आपका इस बार का उपन्यास पहले लिखे सभी उपन्यासों से बढ़िया बन पड़ा है।"

"सब आपकी शुभकामनाओं का परिणाम है।"

कोई जवाब नहीं दिया निमाई बाबू ने। कुछ क्षण चुप रहे। लगा जैसे वे एक दूसरे ही संसार में रह रहे हों। सहसा, मेरा हाथ पकड़कर बोले, "उस दिन एक लड़का आया था। उसके बाप नहीं है। उसका बड़ा परिवार है। बोला, दो जगह प्रूफ़ देखने का काम कर रहा हूँ। इच्छा हो रही थी, उससे यह कह दूँ, तू यह काम छोड़ दे। इसमें पैसा नहीं है, सम्मान नहीं है। पुस्तक छप जाने पर एक भी पुस्तक मुझे नहीं मिलती है। मामूली कृतज्ञता भी प्रकट करने वाला कोई नहीं है। सारा जीवन केवल दूसरों की भूलों को सुधारते-सुधारते, ख़ुद के पूरे जीवन का हिसाब ग़लत हो जाता है।" बात कहते-कहते हाँफने लगे थे निमाई बाबू। मैंने पीठ पर हाथ रखते हुए कहा, "अब थोड़ा चुप रहिए। मैं बाद में आकर आपकी खोज-ख़बर ले जाऊँगा। फल रखे जा रहा हूँ। खा लीजिएगा।"

निमाई बाबू से फिर मेरी भेंट नहीं हुई। अस्पताल में भर्ती होने के दूसरे दिन ही मर गए थे। मुझे एक दिन बाद ख़बर मिली थी।

पंचमी के दिन मेरी पुस्तक छपकर आ गई। हरिनाथ बाबू बोले , "निमाई बाबू का नाम फिर छाप नहीं सका। मर ही तो गए हैं, नाम छापकर अब क्या होगा!"

आकाश-वातास में भगवती के आगमन का आह्वान चल रहा था। चारों ओर ख़ुशी का ज्वार था। पुस्तक लेकर कॉलेज स्कवायर से होकर जाते-जाते नज़र पड़ी उसी बेंच पर, जहाँ निमाई बाबू के साथ पहली बार परिचय हुआ था। कुछ पल चुपचाप खड़ा रहा। सहसा हरिनाथ बाबू की बात याद आ गई। सचमुच एक प्रूफ़रीडर का नाम पुस्तक पर छापकर क्या होगा! उसका काम तो सिर्फ़ देने का है, पाने का तो उसे कोई अधिकार ही नहीं है।

प्रचेत गुप्त

मोबाइल

तंद्रा अपने मोबाइल को अब दाहिने कान से हटाकर बाएँ कान पर लेती है। अब तक यह यंत्र उसके दाहिने हाथ में था, अब वह अपने बाएँ हाथ में लेती है। कान के साथ-साथ हाथ का बदलना, पूरे सत्रह बार हो गया है। फिर भी उसकी बातें पूरी नहीं हुई हैं। जल्दी ही ख़त्म हो जाएगा, ऐसा नहीं लग रहा है। रात में प्रेमी-प्रेमिकाओं की भाव-विभोर वाली बातें भी एक समय पूरी हो जाती हैं, पर झगड़ा शायद ही ख़त्म होता है।

तंद्रा ज़ोर से लंबी साँस छोड़ती है। यह ग़ुस्से से भरी उसकी लंबी साँस थी। वह कहती है, ''सुपर्ण तुम कोई बच्चे नहीं हो जो मेरी बातें समझ नहीं पा रहे हो! असल में तुम जान-बूझकर समझना नहीं चाह रहे हो। तुमसे प्रेम करना मेरी बहुत बड़ी ग़लती है। बहुत बड़ी ग़लती, समझे!''

सुपर्ण कहता है, ''सिर्फ़ मैं ही क्यों, तुम भी तो समझ नहीं पा रही हो तंद्रा। इस नाते भूल सिर्फ़ तुमसे ही नहीं मुझसे भी हुई है। जाने दो, हम दोनों की ग़लती से यह बात बराबर हो गई। तुम इतनी तेज़ साँस मत लो, मेरे कान में बहुत ज़ोर से दर्द हो रहा है।''

तंद्रा ग़ुस्से से बोली, ''कान में दर्द हो रहा है तो रूई लगा लो! मैं फ़ोन रख रही हूँ। ओह, रात के डेढ़ बज रहे हैं!''

सुपर्ण भी उधर से फुसफुसाते हुए कहता है, ''डेढ़ बज रहे हैं तो क्या हुआ? अमेरिका में रात डेढ़ बजे का मतलब क्या है, जानती हो? रात डेढ़ बजने का मतलब है वहाँ की शाम। अपने प्रेमी से मिलने जाने के लिए लड़के-लड़कियाँ तब सजने बैठते हैं। समझी?''

तंद्रा दाँत किटकिटाते हुए कहती है, ''यह अमेरिका नहीं है सुपर्ण! यह यादवपुर बाईपास का एक किनारा है। यहाँ रात के डेढ़ बजे का मतलब है सियार निकल सकता है।''

सुपर्ण अपनी आवाज़ में नमी लाते हुए कहता है, ''तो सियार तुम्हारे घर में घुसा तो नहीं जा रहा है! ठीक है और पाँच मिनट! ओनली फ़ाइव मिनिट्स! प्लीज़ तंद्रा, आज ही हम लोग डिसीज़न ले लेते हैं। ऐसा मौक़ा फिर नहीं मिलेगा। दादी से सुना है कि रात के बारह बजे के बाद किसी विषय पर फ़ैसला लेना बहुत ही मंगलकारी होता है।'' यह सब सुन तंद्रा की इच्छा हुई की वह

प्रचेत गुप्त का जन्म 1962 में हुआ। कहानी एवं उपन्यास की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 212, ब्लॉक-बी, बांगूर एवेन्यू, कोलकाता-700055

अनु. कवि, कहानीकार, अनुवादक दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात' की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। इनका जन्म 1969 में हुआ। संपर्क : कलाकुंज, नूतनपल्ली, स्कूलपाड़ा, दुर्गापुर-713213

बहुत ज़ोर से चीख़े। पर वह प्रयत्न करके अपने क्रोध पर क़ाबू पा लेती है। फिर शांत स्वर में कहती है, ''दादी और नानी की कोई ज़रूरत नहीं है। मैं फ़ैसला ले चुकी हूँ सुपर्ण। मैं अभी तुमसे शादी नहीं करूँगी। पहले तुम्हें कोई काम-धाम मिले। अपनी शादी कहीं भागी नहीं जा रही है।''

''उफ़! तुम वही एक ग़लती फिर कर रही हो। आजकल वह सब कॉनसेप्ट उठ गया है। लड़के को नौकरी करनी ही होगी, अब ऐसा नहीं है। दोनों में से किसी एक के करने से ही चलेगा—लड़का या लड़की। तीन महीना हो गया तुम्हें स्कूल ज्वाइन किए हुए, तो अब शादी कर लेने में असुविधा कहाँ है? ए तंद्रा, सुन रही हो? सुनो ना, हनीमून के लिए एक ऐसी जगह सोची है कि..., वह अभी नहीं बताऊँगा। सरप्राइज़ दूँगा। तय किया है कि आँखें बंद कर तुम्हें वहाँ लेकर जाऊँगा। उसके बाद वहाँ पहुँचकर जब तुम देखोगी..., ए सुन रही हो, चुप क्यों हो? क्या हुआ?''

तंद्रा ने मोबाइल बंद कर दिया है। उसका सिर झनझनाने लगा है। ओह, सुपर्ण कितना अजीब लड़का है! इधर नौकरी नहीं मिली, शादी नहीं हुई, और उधर हनीमून का प्लान बन गया है। इसके बाद निश्चय ही वह बच्चों के परीक्षाफल को लेकर चर्चा शुरू करता। नहीं, कल सुबह इस लड़के को और सख़्ती से डाँटना पड़ेगा, तब यह मानेगा।

पाँचवीं मंज़िल का यह फ़्लैट बहुत ही छोटा, मगर बहुत ही चमत्कारी है। जिसमें तंद्रा का कमरा दक्षिणाभिमुखी है। मेज़ खिड़की से सटाकर रखी है। जिस पर गहरे नीले रंग का टेबल क्लॉथ बिछा हुआ है। उस पर नीले रंग का ही पेपरवेट है। यहाँ तक कि उस पर रखा पेन स्टैंड भी नीला है। ज़ोर से हवा का झोंका आए तो ऐसा लगता है, जैसे वहाँ घर नहीं है बल्कि आकाश मेज़-कुर्सी बिछाकर बैठा हुआ है। मेज़ पर तंद्रा अपना मोबाइल रखकर कुर्सी पर बैठती है। सामने परीक्षा की कॉपियों का बंडल रखा है। कल दोपहर स्कूल जाने से पहले सब चेक करनी होंगी। कोई चारा भी नहीं है। हेड मिस बड़ा गुस्सा करेंगी। दूसरे टीचर इसे महत्त्व नहीं देते हैं। वे लोग डाँट-डपट के बीच मसाला पीसने की तरह बच्चों के प्राइवेट टीचर को लेकर बहुत ही सीरियस चर्चा शुरू कर देते हैं। महज़ तीन महीने से नौकरी कर रही तंद्रा के लिए यह सब संभव नहीं है।

वह परीक्षा की कॉपियों को अपनी तरफ़ खींच लेती है और बहुत ही थोड़े समय में टेबल पर अपना सिर रखकर सो जाती है। सोने से पहले अपने मोबाइल फ़ोन को अपनी उँगलियों से छूते हुए फुसफुसाकर कहती है, ''पागल लड़का... पागल लड़का कहीं का!''

रात को कब कुर्सी छोड़कर अपने बिस्तर पर सोने चली गई, यह तंद्रा को याद नहीं है। जब नींद खुली तो रोशनी से कमरा जगमगा रहा था। सुबह आँख खुलते ही अपने किसी प्रिय का चेहरा याद आता है। तंद्रा को हेड मिस का गंभीर चेहरा याद आता है। ओह, परीक्षा की कॉपी देखनी अभी बाक़ी है। तंद्रा मेज़ की तरफ़ देखती है। सब तितर-बितर पड़ा है। कॉपी वैसी ही फैली हुई हैं। पेन वैसे ही खुला हुआ है। सब वैसे ही है मगर वहाँ मोबाइल नहीं है।

तंद्रा दौड़कर दरवाज़ा खोलती है। अपना चेहरा बाहर निकालकर चीख़ते हुए कहती है, ''माँ! माँ, मेरा मोबाइल कहाँ है? मेरा मोबाइल फ़ोन!''

कमला देवी किचन से ही कहती हैं, ''ओहो! सुबह उठते ही मोबाइल-मोबाइल मत कर! इतनी सुबह तेरे बंद कमरे से मोबाइल कौन लेगा, भूत? देख हो सकता है कोई भूत ही ले गया हो!''

अट्ठाइसवीं मंज़िल के कार्निस पर अपना पैर झुलाकर बैठी हुई है कानन। माँ कहती है, ''ऐसी

चमकती धूप में बाहर नहीं रहते, कोई देख लेगा।''

माँ बहुत ही डरती है। कौन देखेगा? बाईपास के किनारे आकाश छूते इन घरों का काम चल रहा है। इनसानों की चहल-पहल अभी शुरू नहीं हुई है। मिस्त्री और मज़दूरों के आ जाने से दीवार, सीलिंग या फ़र्श में छाया की तरह रहने से भी हमारा गुज़ारा हो जाएगा।

अगर दूसरा कोई दिन होता तो कानन इस समय बैठे-बैठे ज़ोर-ज़ोर से अपना पैर हिलाती। मगर आज चुप है। मुग्ध नज़रों से एकटक देख रही है अपने कंकाल हाथ की तरफ़। जिस हाथ में वह पकड़े हुए है छोटा-सा एक मोबाइल फ़ोन! इनसानों का मोबाइल फ़ोन।

यह यंत्र कानन ने आज पहली बार देखा है, ऐसा नहीं है। पहले भी लुक-छिपकर कई बार देखा है ललचाई नज़रों से। बहुत ही अद्‌भुत चीज़ है! इसमें ऊपर का छोटा-सा सीसा मानो छोटी-सी एक खिड़की है! संगीत बजते हुए, इस यंत्र के चालू होते ही इसकी खिड़की में हल्की-सी बत्ती जल उठती है। ऐसा लगता है, खिड़की खोलकर कोई बुला रहा है, आओ, आओ...चले आओ! कानन देखती है, मनुष्य तब कान से लगाकर बातें सुनते हैं। फुसफुसाते हुए बातें करते हैं। कांनन को इससे चिढ़ भी होती है। आहा, मनुष्य की ज़िंदगी कितनी ख़ुशियों से भरी है! वैसी ख़ुशी की ज़िंदगी अब नहीं मिल सकती है, पर मज़े का यह यंत्र एक बार के लिए मिल जाता।

मिल गया है।

रोज़ की तरह आकाश में चक्कर काटने निकली थी कानन। मनुष्य के मॉर्निंग वॉक की तरह ही भूतों का नाईट का चक्कर रहता है। ऐसा ही चक्कर काटते हुए कानन को दिखाई पड़ता है—एकदम ही खिड़की के किनारे। वह लालचवश खिड़की में अपना लंबा हाथ अंदर बढ़ा देती है।

अब लग रहा है, ऐसा करना ठीक नहीं हुआ। कुछ भी हो यह चोरी ही तो है। माँ को पता चला तो वह ग़ुस्सा करेगी। अब भी वापस किया जा सकता है। वह जगह याद है। वह फ़्लैट पाँच तल्ले का है। टेबल पर नीले रंग का कपड़ा बिछा हुआ है। उड़कर जाते हुए कितनी देर लगेगी?

ट्रिंग ट्रिंग ट्रिंग...! मोबाइल बज उठा।

कानन चौंकते हुए अकड़कर पकड़ लेती है। सिर्फ़ बज ही नहीं रहा है, थरथर करके काँप भी रहा है! अब क्या करे वह? नीचे पटक दे? अरे इसकी खिड़की में तो बत्ती जलने लगी है! कितना मधुर संगीत है! किसने फ़ोन किया है? सुनूँ क्या? अरे बाप रे, बातें करनी होंगी क्या! थोड़ी-सी बातें करने में क्या नुक़सान है? कैसे बोलूँगी? बोल भी पाऊँगी क्या? मनुष्य के साथ तो उसने बहुत दिनों से बातें नहीं की है।

इधर-उधर उँगली फेरते ही यंत्र चालू हो जाता है। तब काँपते हाथों से कानन अपने कान में सटा लेती है।

''कैसी हो तंद्रा? निश्चय ही स्कूल की कॉपी देख रही हो। सुबह-सुबह उन लोगों को लड्डू मत देती जाना। सभी को दस में से दस कर दो। क्या हुआ, कुछ बोल क्यों नहीं रही हो? अरे बाबा, अभी भी ग़ुस्सा शांत नहीं हुआ है क्या? लग रहा है तुम मुझे शादी के बाद बहुत सताओगी!''

कानन से सहन नहीं हो रहा था। बात गले में अटकने लगी है। अंत में कानन फुसफुसाते हुए कहती है, ''नहीं, मैं मतलब...!''

''अरे बाप रे, ग़ुस्से में अपनी आवाज़ भी बदल ली! नाक से तुम्हारी आवाज़ बहुत अच्छी लग रही है तंद्रा। ब्यूटीफ़ुल, बहुत अच्छा! कुछ-कुछ भूतनी जैसी लग रही हो। ठीक है, एक बार कहो तो मैं तुमसे प्रेम करती हूँ। देखूँ भूतनी की आवाज़ में सुनना कैसा लगता है!''

हाथ-पैर ठंडे होने लगे थे कानन के। यह आदमी यह सब क्यों बोल रहा है। कानन थूक गटकते हुए बोली, ''देखिए, आप...!''

''अरे बाप रे, अब आप पर उतर आई है! बहुत अच्छा! बाप रे शादी करनी चाही है इसलिए इतना ग़ुस्सा। प्लीज़ तंद्रा, मज़ाक़ करना अब छोड़ो, विश्वास करो, मैं बीमार हो गया हूँ। रात को ठीक से सो नहीं पा रहा हूँ। दिन में हर वक़्त नींद जैसी रहती है। बहुत ही डिसऑर्डर महसूस करता हूँ। सबका कहना है इस बीमारी की एक ही दवा है—शादी। यह देखो मैं इस मोबाइल के अंदर से ही तुम्हारा शरीर छूते हुए कहता हूँ। शादी के पहले थोड़ा-सा शरीर छू लेने से कुछ नहीं होगा तंद्रा!''

यह आदमी सच में ही क्या मेरे शरीर को हाथ लगाएगा! धत! ऐसा नहीं होता है। कानन का शरीर सिहर उठता है। वह समझ नहीं पा रही है इस यंत्र को अब उठाकर पटक देना चाहिए। पर वह ऐसा नहीं कर पा रही है। कितने दिनों से किसी पुरुष ने उसे छुआ नहीं है। कितने दिन! उसे याद भी नहीं है। वह अपने मन में कहती है, ''मैं, मैं...!''

तुम्हें कुछ नहीं करना होगा तंद्रा! शादी की सारी व्यवस्था मैं ही करूँगा। बस तुम एक बार राज़ी हो जाओ, फिर देखो मैं क्या-क्या करता हूँ; और हाँ, कृपया अपनी आवाज़ को ठीक करो। दिन में भूतनी जैसी आवाज़ सुनकर डर लग रहा है। फ़ोन काटने के पहले एक चुम्मा दो तो देखूँ! अच्छा लो, मैं दे रहा हूँ...।''

कानन के कान गरम हो गए। उसे ऐसा लगा जैसे उसके शरीर में बुख़ार चढ़ गया है। उसे शर्म आने लगी। कानन अनजाने ही अपना हाथ उठाकर होंठ पर लगा देती है।

स्कूल से आधी छुट्टी लेकर घर चली आई है तंद्रा। तबीअत ठीक नहीं लग रही है। कल रात को ठीक से नींद भी नहीं आई। मन बहुत उदास है। लौटते ही पूछताछ की, मोबाइल का अभी तक कुछ भी पता नहीं चला है। इतना ग़ुस्सा आ रहा है, माँ का कहना ठीक ही लग रहा है—कोई भूत ही उसे ले गया है। इसके सिवाय और वह जाएगा कहाँ? तंद्रा सोच रही थी कि घर लौटकर आराम से सोएगी। पर अब नींद नहीं आ रही है। अपनी साड़ी बदलकर बैठकख़ाने में आ जाती है। सुपर्ण को मोबाइल खोने की ख़बर देनी बहुत ज़रूरी है। बेचारा बार-बार फ़ोन करके थक गया होगा। वह टेबल पर रखे फ़ोन का रिसीवर उठाकर डायल करने लगती है।

सुपर्ण दोपहर को सो गया था। फ़ोन सुनते ही वह आश्चर्य से कहता है, ''तंद्रा तुम? क्या हुआ, आज स्कूल नहीं गई?''

''गई थी। तबीअत ठीक नहीं लग रही है इसलिए घर लौट आई हूँ।''

सुनकर सुपर्ण आवेग में आ गया, ''तबीअत ठीक नहीं है! क्या हुआ है? रुको मैं अभी टैक्सी पकड़कर आता हूँ।''

मन की इस अवस्था में भी तंद्रा को हँसी आ गई। वह आगे कहती है, ''टैक्सी पकड़कर आ रहे हो, जेब मे पैसे हैं? उसका किराया तुम्हें ही देना पड़ेगा।''

सुपर्ण नाटकीय अंदाज़ में बोला, ''तुम एक टैक्सी के भाड़े से मुझे डरा रही हो? ज़रूरत पड़ी तो मैं पूरी टैक्सी ख़रीदकर आ सकता हूँ। तुम बस एक बार हाँ कहो तो!''

''सॉरी मैं हाँ नहीं कह रही हूँ। जाने दो, अब यह सब बातें छोड़ो। जानते हो, आज एक बुरी घटना घटी है मेरे साथ।''

''बुरी घटना घटी है, यह मैं सुबह तुम्हारे साथ मोबाइल पर बातें करते ही समझ गया था! अच्छा कुछ होता तो किसी की आवाज़ इस तरह से भूत जैसी नहीं होती! लग रहा था, मैं किसी भूतनी से बातें कर रहा हूँ। भूतनी जैसी

आवाज़ इससे पहले भी तुमने ग़ुस्से में निकाली है? जाने दो, अब तुम्हारी आवाज़ ठीक हुई है, इसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। सब तरह की औरत को स्वीकार किया जा सकता है तंद्रा, पर भूतनी जैसी आवाज़ वाली पत्नी को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। लो अब अपनी बुरी घटना बताओ। रुको, पहले मैं एक सिगरेट जला लूँ।''

तंद्रा कुछ देर चुप रहती है। वह सुपर्ण की बातें ठीक से समझ नहीं पाई थी। सुबह मोबाइल पर बातें हुई हैं मतलब! वह निश्चय ही मज़ाक़ कर रहा है। तंद्रा गंभीरता से आगे कहती है, ''अभी मेरा मन ठीक नहीं है सुपर्ण! मज़ाक़ नहीं करो, अच्छा नहीं लग रहा है। आज सुबह से मैं अपना मोबाइल खोकर बैठी हुई हूँ। इसलिए तो घर के फ़ोन से तुम्हें फ़ोन कर रही हूँ। तुम कह रहे हो सुबह तुम्हारे साथ मोबाइल पर बातें हुई हैं। सुबह मेरे साथ तुम्हारी बातें होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है!''

सुपर्ण आश्चर्य से उछल पड़ा। बोला, ''हुई है एक सौ बार हुई है। उस समय नौ बजकर दस मिनट हुए थे। हम दोनों ने ठीक सात मिनट तेरह सेकेंड बातें की हैं। मैंने बातें ही नहीं की हैं बात ख़त्म होने से पहले मैंने तुम्हें किस भी किया है। एक बार नहीं लगातार दो-दो बार तुम्हारा चुंबन लिया है। प्रेमिका को किसी अन्य मामले में झूठ कहा जा सकता है तंद्रा, चुंबन के मामले में झूठ नहीं कहा जा सकता है। एक बात कहूँ तंद्रा? अगर ग़ुस्सा नहीं करोगी तो एक बात कहूँगा। कहो, ग़ुस्सा नहीं करोगी? पहले कहो! अन्य दिन नरम लगता है, लेकिन आज चुंबन देते समय कैसा सख़्त-सख़्त लगा। ऐसा लगा कि होंठ में नहीं हड्डी में चुंबन लिया है। हाँ, हाँ, मैं सच कह रहा हूँ तंद्रा! तंद्रा, ग़ुस्सा नहीं करो प्लीज़! शादी के नज़दीक थोड़ी-बहुत ऐसी बातें चलती हैं।''

तंद्रा कुछ देर रिसीवर लिए बैठी रही। उसके बाद छटपटाकर बोली, ''मोबाइल कंपनी से कहकर आज ही मेरे मोबाइल की लाइन कटवाने की व्यवस्था करो। प्लीज़ सुपर्ण! आज ही, अभी करो।''

माँ डाँटते हुए बोली, ''इतना नहीं सज रे छोकरी! इतना नहीं सज। इन सबसे हम लोगों का अमंगल होता है। यह सब साज-शृंगार मनुष्यों के लिए हैं। हम लोगों को ऐसा करना क्या अच्छा लगता है?''

कानन कुछ नहीं सुनती है। वह सजने बैठी है। अपने कंकाल हाथों में चूड़ी पहनती है। अपने कंकाल कपाल पर दो-चार बिंदी लगाती है। पलकों रहित अपनी आँखों के चारों तरफ़ हल्का-सा काजल लगाती है। इसके बाद मोबाइल फ़ोन को अपने हाथ में लेकर आकाश छूते घरों के बहुत ही ऊँचाई पर जाकर बैठ जाती है और इंतज़ार करती है कि फिर कभी इसमें गीत बज उठे। कभी फिर से मोबाइल की खिड़की में थोड़ी-सी रोशनी जल उठे। पर ऐसा होता नहीं है। उसमें कुछ भी नहीं होता है। कानन रोना भूल गई है। वह सिर्फ़ उस मोबाइल को अपने गाल पर सहलाती है।

सुपर्ण को अभी नौकरी मिले न मिले, तंद्रा ने यह तय किया है कि वह शादी कर लेगी। आजकल रात को अकेले रहने में उसे डर लगता है।

मालचंद तिवाड़ी

स्त्री का मनुष्यत्व

मैं इस आलेख का आरंभ शरत् बाबू अर्थात् महान कथाशिल्पी शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय के रचे हुए एक नारी चरित्र, *चरित्रहीन* उपन्यास की सहनायिका किरणमयी के स्मरण से करना चाहता हूँ। जब भी मेरे मन में सवाल उठता है या किसी बाहरी हस्तक्षेप से उठाया जाता है कि मैं लेखक क्यों और कैसे बना, तब अकसर किरणमयी ही अपनी संपूर्ण जीवंत ऊष्मिता के साथ मुझे आश्वस्त करने मेरे मन में चली आती है कि ऐसे सवालों के दो टूक जवाब खोजने का रास्ता तुम्हारा नहीं है। अगर होता तो फिर तुम कुछ लिखते ही क्यों?

कोलकाता के उपनगरीय क्षेत्र चंदन नगर में मेरी एक बहन रहती थी। एक बार लड़कपन में छुट्टियाँ बिताने मैं वहाँ गया था। बहन की घरेलू लाइब्रेरी में मौजूद *चरित्रहीन* के हिंदी अनुवाद में किरणमयी से मेरी मुलाक़ात हो गई। कहना न होगा, मुझ किशोर के लिए पहला आकर्षण तो उपन्यास का शीर्षक ही था— *चरित्रहीन* ! यूँ तो हम ताउम्र चरित्रवान बने रहने की सुविधा के साथ चरित्रहीनता में रस लेते ही रहते हैं, मगर किशोरवय के उस आकर्षण की तो बात ही कुछ और थी। याद आता है कि किरणमयी के प्रति मैं एक विचित्र आतंकपूर्ण सम्मोहन से भर गया था। कारण था उस दौर की अपनी मानसिक बुनावट में किरणमयी के उपेंद्र के मुँहबोले भाई दिवाकर के साथ उलझे-से रिश्ते की और फिर उसी के साथ रंगून भागते हुए उसको जहाज़ के केबिन में प्रणय-निवेदन पर दी गई क्रूर प्रताड़णा की छवि का अंकित हो जाना। दिवाकर के साथ-साथ उस केबिन में पहुँचने तक शायद मैं भी ठीक दिवाकर की तरह आसक्ति और आकर्षण के पाश में बँध चुका था। दिवाकर को मिली प्रताड़णा से मानो मेरी भी कोई तंद्रा भंग हो गई थी। मुझे अब भी कई बार मेरे किन्हीं लोलुप क्षणों में फुफकार भरी डाँट पिलाने किरणमयी चली आती है। लेकिन तब भी यह सवाल अधूरा रह गया था कि फिर किरणमयी ने दिवाकर को उस भ्रांत मन:स्थिति तक आने ही क्यों दिया? इसका एक अधूरा-सा उत्तर आज मेरे पास है। यह भी संभव है कि वह ग़लत हो। मगर क्या यही किरणमयी के किरदार की सामर्थ्य नहीं कि मैं अभी तक

मालचंद तिवाड़ी की राजस्थानी तथा हिंदी में उपन्यास, कहानी, कविता की लगभग दस पुस्तकें प्रकाशित हैं। साहित्य अकादेमी, राजस्थानी भाषा साहित्य एवं संस्कृति अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : मंडावा कॉलेज, पो. मंडावा, ज़िला-झुंझनू-333704 (राज.)

अपना यह अनाश्वस्त उत्तर लिए अपनी कहानियों और कविताओं में समाधानविहीन जीवन के चित्र उकेरता रहता हूँ।

किरणमयी का पति रोग-जर्जर काया लिए अशक्तावस्था में बिस्तर पर पड़ा है। उसकी गृहस्थी की दशा सर्वथा विपन्न है। किरणमयी की बूढ़ी और लाचार सास भी परमुखापेक्षी है। किरणमयी है अनिंद्य रूपसी और बुद्धिमती। उसकी बुद्धिमत्ता ने ही उसे अपने रूप और अभावों के प्रति सजग बना रखा है। किरणमयी के सारे व्यवहार में एक खीज और शिकायत का स्वर बजता रहता है और अंततः इसकी परिणति होती है किरणमयी के पद विचलन में जब वह अपने पति के इलाज के लिए आने वाले डॉक्टर के साथ गुप्त संबंध स्थापित कर लेती है। बुद्धिमती किरणमयी को अपने इस आचरण में तब तक कोई दोष दिखाई नहीं पड़ता जब तक उसकी बिखरती हुई गृहस्थी को त्राण देनेवाला उपेंद्र नहीं आ पहुँचता। उपेंद्र को किरणमयी एक ही दिन में नहीं पहचान लेती। उसका वास्तविक आगमन तो स्वयं किरणमयी के भीतर एक विनम्र क्रांति की तरह घटित होता है जो किरणमयी को नए सिरे से रच डालता है। सतीश के मुख से किरणमयी उपेंद्र की ढेरों बातें सुनती है और अवांतर वह उपेंद्र की पत्नी पशुबहू से भी भेंट करती है। शरत् बाबू ने किरणमयी को सचमुच मानव आत्मा के शिल्पी जैसे संयम और एकाग्रता से आकार दिया हैं। उपेंद्र का स्पर्श पाकर किरणमयी के हृदय में एक नई पौ फटती है, नए प्रभात का उदय होता है, जिसमें एक नई किरणमयी आकार लेने लगती है।

अपने बदलते रूप में किरणमयी जब हमारे सामने आती है, तो एक निष्ठावान पतिव्रता की भूमिका में, जो अपने रोगी पति की सुश्रूषा और सेवा में असीम धैर्य के साथ दत्तचित्त है। शरत् बाबू ने किरणमयी का यह रूपांतरण कुछ ऐसे साधा है कि कुछ भी बाहरी, कृत्रिम अथवा असहज नहीं लगता। लगता है कि किरणमयी नहीं एक जीवन-दृष्टि बदल रही है और इसके साथ हमारी अपनी दृष्टि भी एकमेक हो रही है। किरणमयी का यह रूपांतरण ही जीवन और जीने के साथ जुड़े हमारे मूल्यों के संबंध में हमारे भीतर कुछ गहरे और बुनियादी सवाल जगा देता है। पतिता किरणमयी ने पतिव्रत और सतीत्व का मूल्य स्वीकार कर लिया, क्या इसीलिए वह हमारी नज़रों में ऊँची उठ गई?

साधारण विचार से तो इसका उत्तर 'हाँ' ही होगा और उसमें किरणमयी की कुछ हानि भी न होगी। अलबत्ता हानि स्वयं हमारी होगी कि हम किरणमयी के किरदार को उसके अनूठे-पूरेपन में ग्रहण ही नहीं कर पाए हैं। यहीं पहुँचकर कला और जीवन मूल्यों के परस्पर संबंधों पर भी दृष्टिपात करना लाजिमी हो जाता है। एक महान कलाकार केवल इसीलिए महान नहीं होता कि वह महान मूल्यों की बात करता है, बल्कि उसकी महानता इसमें होती है कि वह उन मूल्यों को जीवंत कर देता है, उन्हें हाड़-मांस का रूपाकार दे देता है। प्रायः ऐसा रूपाकार साहित्य में किसी महान चरित्र का हुआ करता है। किरणमयी के संदर्भ में सोचना अब भी शेष रह जाता है कि क्या शरत् बाबू ने उसकी रचना केवल सतीत्व का मूल्य स्थापित करने के लिए की है? इसके लिए क्या पशुबहू पर्याप्त न थी?

शरत् बाबू असाधारण कथाशिल्पी थे। ऐसा सरलीकरण उनके यहाँ खोजना अपने को गँवाने के बराबर है। किरणमयी का किरदार इस बात का भी गवाह है कि एक कलाकार अपने सजग मन के आग्रहों से कहीं अधिक गहरे उतरकर अपनी सर्जना का संधान करता है और अनेक बार ख़ुद भी उससे बेख़बर रह सकता है। एक बार किसी प्रसंग में शरत् बाबू ने कहा था कि क्रांति में सिपाही ही कामयाब होते हैं, मकड़े

नहीं। उनका यह कटाक्ष गांधी जी की अहिंसावादी राजनीति और उनके चरख़े की ओर था। मगर शायद ख़ुद उन्हें नहीं मालूम था कि उनके भारतीय मन में अहिंसा और प्रेम की जीवन-दृष्टि कैसे रची-बसी है और उनके सिरजे हुए चरित्रों में रूपायित हो रही है। कहना कुछ विचित्र और यहाँ तक कि असंगत भी लग सकता है, परंतु कम-से-कम मुझे किरणमयी में गांधी जी की अहिंसावादी मूल्यदृष्टि और भारतीय कर्मवाद के स्वीकार का भाव प्रस्फुटित होता महसूस होता है। किरणमयी अपनी यात्रा में जहाँ पहुँची है, वहाँ प्रेम ही परम मूल्य है और शेष जीवन इसी के व्यापकत्व का अंश हो जाता है। किरणमयी की विलक्षणता यह है कि वह प्रेम अपने पति से नहीं, एक पर-पुरुष उपेंद्र से करती है। उपेंद्र के प्रति उसमें जागृत प्रेम ही उसके जीवन का अंतिम नियामक तत्त्व बन जाता है। इसी की प्रेरणा से किरणमयी पतिव्रता होने का रास्ता चुनती है, इसलिए नहीं कि उसे पतिव्रत धर्म निभाकर किसी स्वर्ग या मोक्ष की आकांक्षा है। इस प्रकार एक विचित्र विरोधाभास किरणमयी के चरित्र में प्रकट होता है कि वह परकीया प्रेम में पड़कर पतिव्रता का आदर्श अंगीकार करती है। असल बात यह है कि उपेंद्र के प्रति उसका प्रेम उसे उस नारीत्व की अनुभूति में ले जाता जिससे वह अब तक वंचित चली आ रही थी। क्या ऐसा नहीं लगता कि किरणमयी के माध्यम से शरत् बाबू हमें यह दिखा रहे हों कि प्रेम ही स्त्री का मनुष्यत्व है और बिना मनुष्यत्व के किसी भी मूल्य की कल्पना व्यर्थ है। किरणमयी जानती है, उपेंद्र के साथ उसके प्रेम का कोई प्राप्तव्य नहीं। वह अपनी पत्नी पशुबहू को अगाध प्रेम करता है। वहाँ किसी और के लिए सूत भर को जगह नहीं है। उपेंद्र में किरणमयी इसी प्रेम का साक्षात्कार करती है। प्रेम का साक्षात्कार और उसकी उत्पत्ति अलहदा नहीं है। इसलिए किरणमयी केवल देखती नहीं, उसे अपने हृदय में पा भी लेती है।

इस किरणमयी के साथ मेरा रिश्ता बहुत पुराना हो चला है। किशोरवय में मेरे आवेगों ने उस उन्मुक्त और भावनात्मक रूप से मांसल चरित्र में शरण खोजनी चाही थी जबकि आज वही किरणमयी मुझे अपनी सारी लेखकीय जिज्ञासाओं का दैदीप्यमान प्रतिबिंब जान पड़ती है। ऐसा लगता है, किरणमयी मेरी चेतना का एक विशाल फलक है जो मेरी स्मृति के प्रांगण में एक पूरी दीवार पर अकेला टँगा हुआ है। मैं अकसर पाता हूँ कि यह चित्र-फलक अपने पूरे दृश्य में मुझे बुला-बुला ले जाता है और किरणमयी उसी तरह हाथ पकड़कर मुझे अपने पास बिठा लेती है जैसे वह दिवाकर को बिठा लिया करती थी। वह मुझसे कहती रहती है, "शरत् बाबू ने तो तुम पर इतना ही उपकार किया न कि मुझसे तुम्हारी भेंट करवा दी। बाद की हर भेंट करने तो तुम ख़ुद ही चलकर मेरे पास आए हो। अपनी इन मुलाक़ातों में तुमने भी मुझे रचा है, मुझमें रंग भरे हैं। मैं बुद्धिमती हूँ, तुम्हीं संसार में कहते फिरते हो और तुम्हें ही मेरी बुद्धि पर भरोसा नहीं!"

किरणमयी! क्या तुम जानती हो कि मैं तुम्हारी छवि लिए इस संसार में तुम्हारा एक भौतिक प्रतिरूप ढूँढ़ता फिर रहा हूँ। तुम मुझे मेरे इस संसार में ही क्यों नहीं मिल जाती? रूपसी और बुद्धिमती स्त्रियों से तो यह संसार भरा पड़ा है। कोई मुझसे पलटकर कहता है कि किरणमयी केवल रूपसी और बुद्धिमती ही नहीं, वह कुछ और भी है। ऐसी 'और' जिसका भौतिक प्रतिरूप खोजना क़तई बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। तो क्या किरणमयी केवल कला में, उसके स्वायत्त संसार में ही संभव है, उसके बाहर नहीं? दूसरे शब्दों में क्या कला ही वह दर्पण नहीं जिसमें झाँककर हम अपने औसत किरदार से निजात

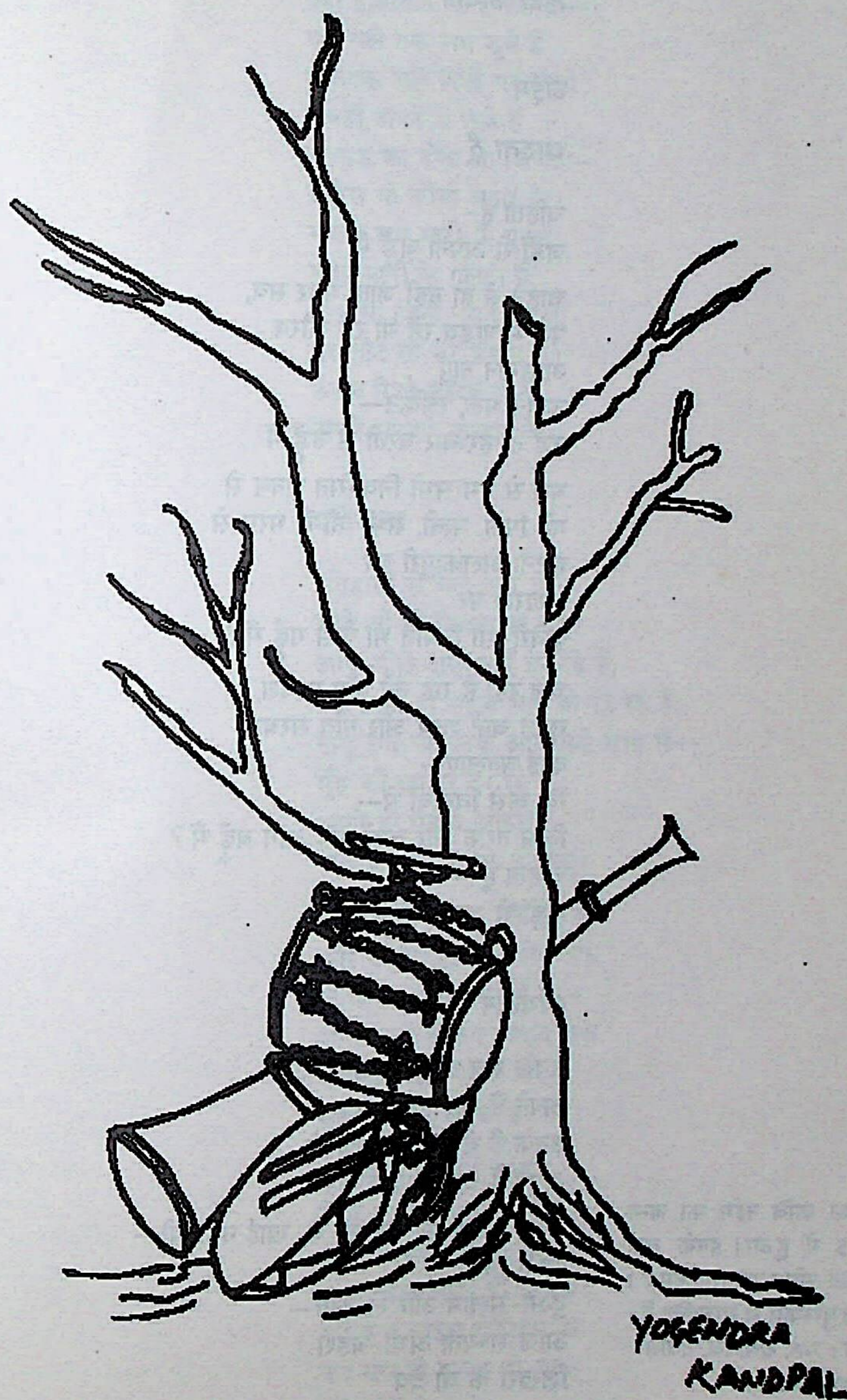
पाया करते हैं? यदि ऐसा है, तो वहाँ अकेली किरणमयी ही नहीं, असंख्य किरदार हैं जिनमें हम हमारे मनुष्य की उन भूली हुई छवियों को ढूँढ़ सकते हैं जो हमारी अपनी तो हैं मगर इस प्रत्यक्ष संसार में हमें नज़र नहीं आतीं।

अब मैं दिवाकर नहीं हूँ—अबोध और भावुक दिवाकर—जो किरणमयी के प्रेम को केवल अपने मन के कटोरे में भरकर पीने को उद्यत हो चला था। प्रेम किसी कटोरे में नहीं समाता, न उसे भरने की चेष्टा ही करनी चाहिए, चाहे फिर कटोरा अपने मन का ही क्यों न हो। क्या किरणमयी ने उपेंद्र से प्रेम करके ऐसा किया था? उसने तो यह किया कि अपने भीतर की तमाम वंचना को उपेंद्र के प्रेम से माँजकर उजला कर लिया। वह उज्ज्वलता से भर गई। उसने पाया कि इस उजाले में तो सारा संसार समा गया है, जिसमें उपेंद्र भी है और भोला-भाला दिवाकर भी। दिवाकर यही तो नहीं समझ पाया था। उसे लगा, किरणमयी भीतर से ख़ाली है, जहाँ आसानी से क़ब्ज़ा मिल सकता है। वह नहीं बूझ पाया कि वह तो ऐसी ख़ाली थी कि सब कुछ उसी में भरा पड़ा था। दिवाकर के लिए तो वहाँ ज़रा-सी ठौर ही यथेष्ट होती।

यहाँ तक आकर मुझे बरबस मायकोव्स्की की झिलमिलाती काव्य-पंक्तियाँ याद आ रही हैं :

मैं तुम्हें सहेजता हूँ ऐसे
जैसे युद्ध में घायल सैनिक
सहेजता है—
अपनी लुंज-पुंज टाँग!

मुझे ऐसा लगता है कि मेरे समय में प्रेम ही युद्ध में घायल सैनिक की लुंज-पुंज टाँग है जिसे अपने लिखने में सहेजता हुआ मैं युद्धभूमि से बचा ले आना चाहता हूँ। युद्धभूमि अब निस्सीम जान पड़ रही है, पर अपने यत्न तो हम लोगों को करने ही पड़ेंगे। 'राम की शक्तिपूजा' के राम के लिए निराला ने एक पंक्ति लिखी है : *पर रहा एक मन और राम का जो न थका...*यह कौन-सा मन होता है जो प्रत्यक्ष के हमारे नित्य थकते और पस्त होते मन के मुक़ाबले कहीं अनथक बचा रहता है? यह मन अगर होता है तो केवल कथा के नायक राम का ही नहीं होता, उसके सिरजनहार निराला का भी होता ही होगा। मैं अपने और आपके उसी अनथक मन को टटोलने की कोशिश कर रहा हूँ, अन्यथा रंग-रोगनदार इतनी अप्रासंगिकताएँ आन जुटी हैं कि भाषा के देश से कविता के देश-निकाले का दिन अब दूर नहीं लगता। कार्ल मार्क्स ने कभी कविता को 'मानवता की मातृभाषा' कहा था और हम ये बातें एक ऐसे समय में कर रहे हैं जब संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वे आनेवाले कुछ वर्षों में अनेक जीवंत भाषाओं के सर्वथा लोप हो जाने की आशंका जतला रहा है। ज़रा सोचिए, संप्रेषण के अंतर-संजाल (Internet) में घिरी हुई यह दुनिया किस क़दर गूँगी-बहरी होने जा रही है। पर हम हैं कि बस हम ही हैं, जैसे कि फ़िराक़ साहब फरमा गए, ''ये हुस्नो इश्क तो धोखा है मगर फिर भी!'' लेखक होना इसी परम मनुष्यता के धोखे में विश्वास रखना है।


YOGENDRA
KANDPAL

हिंदी कविता

नईम

चाहता हूँ

चाहता हूँ–
जड़ों से अपनी जुड़ूँ मैं

चाहने से हो नहीं जाता मगर सब,
पक्ष में पांडव रहें या रहें कौरव
आसमान नापूँ
उड़ानें भरूँ, लेकिन—
उड़ूँ तो हर बार धरती से उड़ूँ मैं

यक्ष से हम सभी निर्वासित जनम से
माँ, पिता, पत्नी, सभी को हैं भरम से
छूटना अलकापुरी का
अखरता पर
कुबेरों-सी नियति भी कैसे गढ़ूँ मैं ?

चल रही है राह नंगे पाँव परवश,
छूटते जाते शहर और गाँव सरबस
कोई बतलाए—
कि कैसे बियाबाँ में—
किस तरफ़ और कहाँ तक आगे बढ़ूँ मैं ?
चाहता हूँ—
जड़ों से अपनी जुड़ूँ मैं

व्यवहार

उनके सब व्यवहार नक़द तो,
अपने हैं सारे उधार के।
उनके हैं वैश्विक लक्षण तो,
अपने हैं देसी बाज़ार के।

पहले भी थे वो, हम भी थे, खाई नहीं थी—
इतनी गहरी
दुआ-सलाम और ले देसी—
आज सभ्यता अंधी-बहरी
शिखरों के वो देव
भगत हम हैं उतार के।

वरिष्ठ कवि नईम का जन्म 1935 में हुआ। इनके कई कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। दुष्यंत पुरस्कार से सम्मानित हैं।
संपर्क : 7/6, राधागंज, देवास-455001 (म.प्र.)
फ़ोन : 07272-256311

यही हक़ीक़त भी है शायद—
गले गले तक सब डूबे हैं
लकदक भले दिखें पर साधो!
सबही अपने से ऊबे हैं
पतझड़ का होना था जिनको—
सर्कस वो क़ौमी बहार के।
सबके सब माटी के पुतले,
हवा, पानी के ग़ुलाम हैं,
प्रभु-सा जिन्हें नमन करता,
पर लौट रहे मेरे प्रणाम हैं।
उनके रिश्ते चाँदी, सोने,
अपने भटयारे कुम्हार के।

इतिहास

इतिहासों से चले और वो—
जीते जी ही मिथक हो गए।
आगे-पीछे दाएँ-बाएँ हेर रहे हैं,
अपने को ही सहज भाव वो टेर रहे हैं,
खड़्जंगी भी उनके आगे भरी सभा में—
मुँह की खाकर ढेर रहे हैं।
अपने ही पर्याय अकेले,
जन-जन को सबक हो गए।

प्रतिभा को लांछन की हद तक,
और व्यवस्थाओं को भेद तक,
ले जाकर छोड़ा करमों से—
जीवन की अंतिम सरहद तक
देशकाल परिभाषित करते,
वागीश्वर वो बहक हो गए।

राह छोड़ पगडंडी पकड़े,
लिए साथ में अगड़े-पिछड़े,
रोते रहे जनम से ही वो—
अपने बस अपने ही दुखड़े।
मूर्त रूप साहस जोखिम के
कई बार तो हतक हो गए।
इतिहासों से चले...

सुबह

अनचाहे द्वारे आ बैठीं सुबहें कुहरे की,
नई-नई-सी लिपियाँ, छवियाँ नए ककहरे की
सतरंगी किरनें आकाश की—
आज न जाने कहाँ बिलाईं?
पथ पर ही खो गईं कहीं ये,
कच्ची कुँआरी और अयानी
परंपरा से ग्राहक थीं ये रंग सुनहरे की।

सरोकार क्या रहे नहीं
अपने घर-द्वारों से?
या उलझी हैं
गई रात के गोटे-तारों से?
प्रतिछाया-सी लगती हैं वो गूँगे-बहरे की।

इसने कब चाहा, पर—
इनको ले आया मौसम,
रीति-नीति है बीहड़ उसकी
क्या तो नियम-धरम?
रति के आईनों में छवियाँ इनके चेहरे कीं,
अनचाहे मेहमानों-सी ये सुबहें कुहरे की।

जीवन

जीवन मिला—
जनम से मुझको घाटे के जैसा।
चुभता रहा
पाँव में अकसर काँटे के जैसा।

कपड़ों जैसा पहिन-ओढ़कर
हम न उतार सके,
अपने को अपनी बोली में—
हम न पुकार सके
अनुपातों में—
महज़ नमक-सा आटे के जैसा
जन्मों से जो चढ़े क़र्ज़ थे
उतर नहीं पाए
देनदार ही रहे हमेशा,
उबर नहीं पाए।

जड़ा तमाचा—
रहा गाल पर चाँटे के जैसा।

अपने पीछे वालों को हम—
क्या दे जाएँगे?
लगता है हम उनकी उम्र—
भी ले जाएँगे।
बचा रहा,
बच जाऊँगा सन्नाटे के जैसा।

कुबेर दत्त

कविता पत्तन

बहुत वीरान है कविता पत्तन
ज़रूर कोई महाकाव्य उतरा होगा
और पहले जो उतरी थीं छोटी-छोटी कविताएँ
सबको कुचल गया होगा...

इस कविता पत्तन पर
कभी-कभी जब महाकाव्य उतरते हैं
यही होता है...
उजाड़ इस कविता पत्तन को
कोई आलोचक नहीं मिला आज तक...
स्टार आलोचक तमाम
मुष्टि युद्ध के फ़ाइनल में प्रवेश कर चुके हैं...
हारे हुए आलोचक-दल
अर्द्धविक्षिप्त घूमते हैं यहाँ-वहाँ
फिर भी, छोटी-छोटी, मासूम कविताएँ
भरती हैं उड़ान
और महाकाव्यों के डैनों से टकराकर
दम तोड़ देती हैं...
ऐसे में संपादक भी
शीर्षासन करते वक़्त निभाता है आपद् धर्म
आधुनिक नींद में आँखें खोलता-मीचता है
ढेर-ढेर पांडुलिपियाँ बिछ जाती हैं—
उसके विशालकाय शरीर पर...

एक बार फिर
जेट इंजन की घरघराहट तेज़ हुई

जाने-माने हिंदी कवि, मीडिया-कर्मी, स्वयं शिक्षित चित्रकार कुबेर दत्त का जन्म 1949 में हुआ। इनके पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इन्होंने अनेक वृत्तचित्र निर्देशित किए हैं। इन्हें अज्ञेय शिखर सम्मान के साथ कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिले हैं। संपर्क : 159, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फ़ेज़-1, दिल्ली-110092

कविता पत्तन पर
फिर उतर रहा है कोई महाकाव्य...
संपादक फिर
आपद् धर्म निभाने को आतुर
आलोचकों का फ़ाइनल
अब चरम पर है...।

वे पोथों के बाहर हैं

पोथों में क्या ढूँढ़ रहे हो
रामदास?
वहाँ अति प्रयुक्त शब्दों के
असंख्य शव
डीप फ्रीज़र में रखे हैं...
ढूँढ़ना ही है
तो दीमक के भीतर
जल रही है जो आग
उसके ईंधन में जीवित
शीतयुद्ध के मोर्चों पर तलाश करो उन्हें
जो पोथों में नहीं हैं।

बच्चे इंतज़ार कर रहे होंगे

अपनी
काठ-थकान के दुख की
अंतिम खिड़की पर कब तक झुकी रहोगी?
कोई नहीं है वहाँ सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ
सिर्फ़ थके हुए यात्री हैं सीढ़ियाँ उतरते
या फिर
पंछियों के सपनों में
सीढ़ियाँ उतरतीं
पके धान की दो-चार बालियाँ हैं
या फिर
गोधूलि में, माँ तक पहुँचने का
रास्ता टटोलता अकेला बालक
या फिर
संसद से टी.वी. तक
टी.वी. से दिमाग़ तक तैरता शून्यकाल...
कुछ नहीं इसके सिवा, दूर-दूर तक

समय के माथे पर, गो कि
खींच दी तुमने लकीर
पर क्या होगा खिड़की पर झुके?
देखो, दर्पण तक काला हो गया, निपट
कहीं कोई परछाईं तक नहीं
चलो
घर चलो
बच्चे इंतज़ार कर रहे होंगे।

सुखी मैं

धर्मपरायण देश में
रहता हूँ मैं, सुखी
सुबह आरती, दोपहर में सबद-कीर्तन
इबादत
प्रार्थना
प्रेयर
शाम में अज़ान...
रात में ज़रूर थोड़ा कष्ट होता है
पेट-पीठ-कूल्हों की सीवन काटता हुआ
खच्च से चाकू
आँतों में जाता है
पढ़ा जाता है कलमा
होता है मंत्रोच्चार हालाँकि...

सदियों में मृत देह-सा
सुखी मैं
रहता हूँ धर्मपरायण देश में
फहराता जाता हूँ धार्मिक बुर्जियों पर
मढ़ा जाता हूँ दैहिक, दैविक, भौतिक ढोलकों पर
मर-मरकर भी बार-बार जन्मता हूँ
आरती और कीर्तन के तपोबल से...
सुखी रहता हूँ सर्वदा...
बस रात में थोड़ा-सा कष्ट ज़रूर होता है
जब पेट-पीठ-कूल्हों की सीवन काटता हुआ
खच्च से चाकू आँतों में जाता है
तब भी पढ़ा जाता है कलमा
होता है मंत्रोच्चार, हालाँकि...
धर्मपरायण देश में रहता हूँ, मैं सुखी।

नीरज कुमार

...और वे अमर हो गए

सृष्टि के आदिकाल में
एक दिन
देवताओं को लगा सताने
मृत्युभय

हँसते-खिलखिलाते देवगण
लगे काँपने
थरथर
नीले चेहरों के नीचे से
फूटने लगी जर्दी

जा पहुँचे देवता
स्रष्टा के दरबार में

समवेत स्वर में
देवता
पूछना चाहते थे
प्रश्न स्रष्टा से
'आख़िर क्यों बनाया
तुमने मृत्यु को'
परंतु उनकी आवाज़
खो गई कहीं
उनके कंठ में

पूरी ताक़त लगाकर
देवताओं ने
साधा अपनी वाणी को
तब भी आया नहीं प्रश्न बाहर

बल्कि फूटने लगे
प्रार्थना के स्वर
'हे पिता
कर दो हमें अमर'
प्रजापति मूँदे रहे
अपने छहों नेत्र
उठती रहीं
लहरें लगातार
अथाह जलराशि में
डोलता रहा कमलासन

नीरज कुमार का जन्म 1967 में हुआ। लेख एवं समीक्षाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : डी-112, टैगोर गार्डन एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110027, मो. 9312225213

देवताओं ने फिर की
गुहार
'हे पिता
कर दो हमें अमर'

प्रजापति ने धीमे से
खोले नेत्र
देखने लगे शून्य में
दूर-पार
मौन
लगातार
हवा में हिलते रहे
श्मश्रु

देवताओं की बढ़ने लगी बेचैनी
छूटने लगा धैर्य
करने लगे बार-बार
कातर पुकार
'हे पिता
कर दो हमें अमर
अमर कर दो हमें
हे.पिता'

प्रजापति ने उठाया
अपना हाथ
हवा ने देखा चौंककर
जल राशियाँ सिमटने लगीं
चंचल हो उठे सूर्य के अश्व
चाँद उग आया सूर्य के
शीश पर
तारे उतर आए
देवताओं के मुरेठों पर
चमकने लगी शेषनाग
के माथे की मणि

गूँजने लगा
मेघमंद्र स्वर
'पाना चाहते हो यदि अमरता
क़रो ख़ुद को पुनर्संयोजित
बचना चाहते हो
यदि

मृत्यु के कुटिल पंजों से
करो छंदों की रचना
हो जाओ उनमें समाहित सदेह
तभी हो सकोगे
अमर
अदेह'

मूँद लिए स्रष्टा ने
अपने छहों नेत्र
कमलासन डोलता रहा निर्विकार

पुनर्संयोजित करने की विधा
सृष्टि में जानते थे सिर्फ़ मनुष्य
वही हो सकते थे
पितृऋण से उऋण

जब स्तब्ध देवता
पड़े थे असमंजस में
देवियाँ गूँथ रही थीं जयमाल
सजा रही थीं बंदनवार
अमरता लेकर
आ रहे देवताओं के लिए
गंधजीवी देवताओं की
बढ़ने लगी बेचैनी
करने लगे वे परस्पर विचार
आओ मिलकर करें
छंदों की रचना
समा जाएँ छंदों में सदेह
तभी हो सकेंगे अमर अदेह

पर इसमें भी था
संकट गंभीर
रचना के साथ
जुड़ा था अनन्य संबंध
श्रम का

देवताओं के उड़ गए थे होश
सृष्टि का इतिहास
वंचित था
देवताओं के श्रम से
'देवता नहीं होते
आविष्कर्ता

नहीं होते
रचनाकार
वे नहीं थाम सकते
हाथ में
क़लम हो या औज़ार'
सृष्टि के अब तक के
इतिहास में
श्रम
मनुष्यों का
मनुष्यों के द्वारा
मनुष्यों के लिए
ही होता आया था

अब नहीं था कोई चारा
आना पड़ा उन्हें मनुष्यों की
शरण में
आदेश देने के अभ्यस्त देवता
खड़े थे
मनुष्यों के सामने
प्रार्थना की मुद्रा में
हमेशा की तरह
पसीज गया था
मनुष्यों का हृदय

मनुष्यों ने छोड़कर
हल की मूठ
थाम ली हाथ में क़लम
रांपी से छीलकर
पेड़ की छाल
रचने लगे उस पर
छंद-गीत-मंत्र
अँखुवाने लगी खेतों में
ऋचाएँ

मनुष्यों ने पिरो दिया
ऋचाओं में देवताओं को
सदेह
साकार कर दिया
देव सृष्टि को
छंदों में

मंत्रों के अधीन कर डाला
देवताओं को

दिया देवताओं को
आशीर्वाद मनुष्य ने
जब तक रहेगी
पृथ्वी पर कविता
कविता में छंद
छंद में लय
लय में गति
गति में ताल
पार-पार-पार
काल के पार
जाओ हे देव!

लौटे देवगण
अमर-कवच समेत
अभेद्य और अदेह!

हरिमोहन

मोबाइल पर बातचीत

संगीत सुन
ध्वनियों के सहारे
पहुँचते हम
एक-दूसरे के विचारों तक।
विचारों में टटोलते
एक-दूसरे का चेहरा।

रंगों के बीच
उभरते बिंबों के पार
देखते
एक-दूसरे का मुस्कुराना।
मुस्कुराहट के सहारे
पहुँचते
एक-दूसरे के दुख तक।

और यों हम
दिन में कई बार

कवि-कथाकार हरिमोहन के तीन कविता-संग्रह, चार कहानी-संग्रह, दो यात्रावृत्त, दो उपन्यास प्रकाशित हैं। अनेक संस्थाओं से पुरस्कृत हैं। संपर्क : पी-1, निदेशक आवास, गोपालकुंज, बाग़ मुज़फ़्फ़र खाँ, आगरा 282002

ध्वनियों में मिलते
रंगों में दिखते,
एक-दूसरे के भीतर
संगीत की हिचकी-से बजते।

विजय राठौर

देखने का कोण

तुम्हें उस कोण से मुझे देखना चाहिए
जिससे तुम मुझे अपना लगने लगो

धरती पर गिरती हैं सूरज की किरणें चारों तरफ़
फिर भी ज़रूरी नहीं है
सभी चीज़ें सभी कोणों से अच्छी लगने लगें
कभी-कभी उजली किरणें
तुम्हारे काले पक्षों को भी
उजागर कर जाती हैं अनचाहे

तुम्हारी जो मूर्ति अंकित है मेरे मन में
कभी भी टूट सकती है भरभराकर
क्योंकि कभी भी तुम्हारे बाहर या भीतर
वह भी दिख सकता है जो मुझे नहीं देखना चाहिए
कभी-कभी तुम दिखते हो दिशा सूचक की तरह
और कभी-कभी दिशा भ्रम भी उपजता है तुम्हीं से
इसलिए मुझे अपनी दृष्टि से तुम्हें देखने के लिए
बदलने होंगे कई कोण

वह कोण ज़रूर होगा तुम्हारे भीतर भी
जहाँ एक सर्जक की तरह
अगर मिट्टी से सने हाथ न भी हों
मिट्टी से सनने का मन ज़रूर होगा तुम्हारा
बस ऐसी ही दृष्टि क़ी ज़रूरत है मुझे

अन्यथा जिधर देखूँ
जिस कोण से देखूँ
अगर अँधेरा ही देखना है मुझे
तो दृष्टि से ओझल हो सकता है उजाला भी
और दृष्टिहीन हो सकती है मेरी खोजी आँखें भी।

विजय राठौर का जन्म 1950 में हुआ। इनके सात कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कई संस्थाओं से पुरस्कृत हैं। संपर्क : गट्टानी कन्या उच्च. माध्य. शाला के सामने, जांजगीर,चांपा 495668, छत्तीसगढ़, मो. 9425231043

प्रदीप जिलवाने

दुख की कविता

दुख, हमारे जीवन का एक अहम हिस्सा है।
देह के ज़रूरी अंग-सा।

दुख नमक की तरह घुल जाता है आसानी से
और हलक में छोड़ जाता है अपना खारा अनुभव
हर घूँट के बाद एक नया अनुभव

हम दुख को और दुख हमें
जानते हैं, पहचानते हैं अच्छी तरह
हम दुख को और दुख हमें
घर के सामने लगे घूरे-से घूरते रहते हैं अकसर

दुख की चिड़िया छत पर बैठी
इसी ताक में रहती है कि कब थोड़ा-सा अवसर मिले
और चार तिनकों का एक घोंसला बना लूँ इस शानदार घर में
किसी झूमर के ऊपर, किसी पुरानी तसवीर के पीछे।

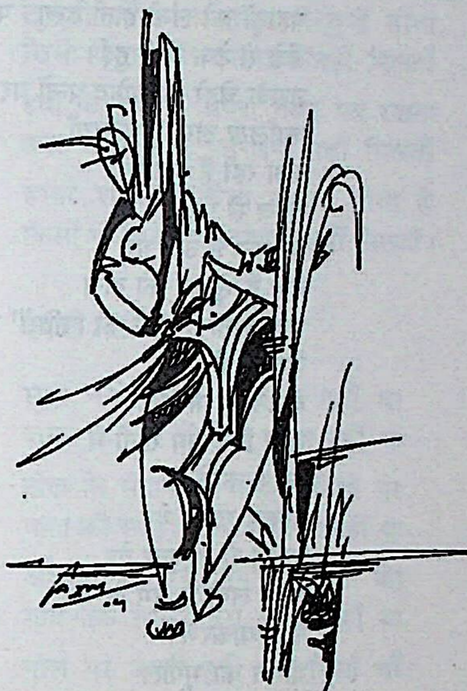
मेरे घर का एक ही रास्ता है
मगर दुख न जाने किन-किन रास्तों से चला आता है दरवाज़े तक

दुख जंगल के सीने पर भेड़ियों का शोकगीत है
गहराते हुए अँधेरे के साथ बढ़ता जाता
अकेलेपन का वो कानफोड़ू शोर है,
जिसे सुनना और सहना
हमारी मजबूरी भी है और नियति भी।

भाषा

कितने बहुविधभाषी हैं हम
घर में अलग भाषा बोलते हैं
और बाज़ार में अलग।
हमारी नैतिक भाषा कुछ और होती है
सामाजिक कुछ और
राजनीतिक कुछ और
और यह भाषायी फ़र्क़
सिर्फ़ हमारे लहजे तक सीमित नहीं रहा

प्रदीप जिलवाने का जन्म 1978 में हुआ। इनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 112/26, पहाड़ सिंगपुरा, मारू मंदिर के पास, खरगोन-451001 (म.प्र.), फ़ोन : 07282-250557



हमारे विचारों से भी परिलक्षित होने लगा है स्पष्ट
अब थूक से सिर्फ़ करारे नोट ही नहीं गिने जाते
अपनी भाषा को भी चमकाया जाता है
हमारी दोमुँही चौमुँही चिकनी-चुपड़ी भाषा
विक्षिप्त आदमी के संकेतों से गूढ़ रहस्यमय
और भटकाऊ भले हो,
पर कमाऊ है
और कमाऊ पूत हर माँ को प्यारा होता है।

रजनीकांत पांडेय 'व्याकुल'

देवकन्या

बूढ़े सूरज को बिदाई दे
चल पड़ी है वह
पीठ पर लकड़ियों से भरी इगिन[1] को
माथे से लटकाए

1. बेंत की बनी लंबी टोकरी

रजनीकांत पांडेय 'व्याकुल' के दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : लकी स्टोर, ओल्ड मार्केट अलोंग, वेस्ट शियांग, अरुणाचल प्रदेश-791001

पहाड़ों की लंबी होती ढलान पर
डंडे से टेक लेती हुई।
उसके चेहरे के सफ़ेद पन्नों पर
कालिख लगी लकड़ियाँ
बना रही हैं रेखाचित्र
सूरज से पहले
पहुँचना है उसे घर
देना है सूअरों को दाना
बंद करना है मुर्गों को पितिरों[1] में
जलानी है आग
बनाना है पोंका[2]।
सारा दिन झूम खेती में
निराई करते
अकड़ गई है देह
पसीने से तरबतर देह
रचने लगी है श्रम के कई
नए व्याकरण।
यौवन का भूगोल
खो गया है कुँआरेपन के इतिहास में
सुबह से शाम तक
धूप की पहाड़ी नदी में नहा
करती है वह
आयु का दान
यह मात्र औरत नहीं
सौंदर्य-समृद्धि की देवी है
अरुणाचल की यह
देवकन्या।

अनिरुद्ध सिन्हा

नहीं मिलतीं

हरेक शख़्स को तन्हाइयाँ नहीं मिलतीं
ज़ुबान काटके ख़ामोशियाँ नहीं मिलतीं

हज़ार बार ये सोची गई मुहब्बत में
कि अपने लोग से रुसवाइयाँ नहीं मिलतीं

अनिरुद्ध सिन्हा की ग़ज़लें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : गुलज़ार पोखर, मुंगेर-811201 (बिहार) मो. 9430450098

---

1. बाँस का बना पिंजरा
2. चावल की मदिरा

खुलेगी आँख तो मालूम ये तुम्हें होगा
किसी चिराग़ को परछाइयाँ नहीं मिलतीं

हवा के हाथ में अपना ग़रूर मत रखना
हवा के हाथ में गहराइयाँ नहीं मिलतीं

हमारे शहर में कैसा सुकून आया है
किसी भी सिम्त पे शहनाइयाँ नहीं मिलतीं।

देखा नहीं था

सुर्ख़ नंगी आँख से देखा नहीं था
ज़ख़्म के बारे में कुछ सोचा नहीं था

खेल के मैदान की उन कोठियों पर
वक़्त की स्याही से कुछ लिखा नहीं था

अधमरा-सा एक सपना ज़िंदगी का
गाँव तक लाकर उसे छोड़ा नहीं था

गाल पर उभरी हुई जो हड्डियाँ थीं
फ़लसफ़ा उनका नया समझा नहीं था

दर्द सीने और घुटने तक रहा जो
दोस्तों के घर कभी लाया नहीं था

हेमंत देवलेकर

आख़िरी मैदान

लगभग युद्ध क्षेत्र जैसा दिखाई दे रहा है
खेल का मैदान इस वक़्त।

पच्चीसों टीमें एक साथ खेल रही हैं क्रिकेट
सारे स्टंप्स बहुत पास-पास गड़े हुए हैं।

पहचानना मुश्किल है
कौन-सी गेंद किसके बल्ले से छूटी है
कौन-सा कैच कौन लपके
वह बाउंड्री की ओर जाती गेंद रोके या नहीं।

बहुत गफलत और माथा-पच्ची है यहाँ।
मगर क्या करें
शहर में अब यही एकमात्र मैदान बचा है।

हेमंत देवलेकर का जन्म 1972 में हुआ। इनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : एफ़ 1/3 प्रोफ़ेसर कॉलोनी, भोपाल

कुछ दिनों बाद
यहाँ पर भी एक बहुमंज़िला कॉम्प्लेक्स बन जाएगा
खुल जाएँगी नई-नई दुकानें
और दफ़न हो जाएँगी गेंदें,
स्टंप्स, भागा-दौड़ी, हो-हुल्लड़।

लिफ़्ट चढ़कर बच्चे जाएँगे
किसी फ़्लोर पर
बैठेंगे कंप्यूटर के सामने
उनके हाथों में होगा रिमोट
और वे खेल रहे होंगे क्रिकेट।

उन्हें पता नहीं होगा
कि उनका बचपन भी दफ़न कर दिया गया है
उस बहुमंज़िला कॉम्प्लेक्स के
बेसमेंट के नीचे।

हुसैनी बोहरा

छोटी-चट्टान

खड़ी हुई, दबी हुई-सी
बहुत-सी छोटी चट्टानें
आड़ी-तिरछी,
एक-दूसरे से जुड़ी हुई
कुछ अलग-थलग-सी
सफ़ेद-स्याह, काई जमी
कटी-फटी
काँटों से सजी
आधार दे रही
बड़ी-सी चट्टान को
खोखले अट्टहास का मखौल उड़ाती
समर्पण भाव से
अवलंब दे रही
लघुता से गुरुता प्रदान कर रही
बिना किसी संशय के
प्रतिदान की अपेक्षा से रहित
ये अनगिनत छोटी चट्टानें।

हुसैनी बोहरा की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क :1-म-35, से.न. 5 हिरण मगरी, उदयपुर-313002 (राज.)

सुवास कुमार

मृत्यु-1

सड़क मुड़ती हुई
पहाड़ के पीछे
जंगल में गुम होती है
पहाड़ पर शाश्वत रात है
और जंगल में अंतहीन स्वप्न
सपनाता हुआ जंगल वीरान है
सन्नाटा खींचे
एकदम से आतंकित करता हुआ
किसने समझा है जंगल को ?
सड़क सिर्फ़ रहस्यमय बतकहियाँ फुसफुसाती है
और बिसूरती है ख़ाली
कि जंगल से कोई लौटता नहीं

मृत्यु-2

एक नंगा सच
तुम्हें उघाड़ देगा
तुम्हारे
रक्त-हाड़-मांस का भी आवरण
नहीं करेगा सहन
पर तुम कायर
तो नहीं बनो क्योंकि एक कायर को
ज़िंदगी से भय होता उतना ही
जितना कि होता मौत से डर
डर और भय और मौत हैं अंधकार
इसलिए ज़िंदगी में उजाला रखो
बाँट अकेलापन रखो सबको साथ
रखो चौकन्नापन
नंगा सच बनकर
मौत आए जब दबे पाँव,
या गुर्राती हुई ही
तब तुम चूहा मत बनो।

कहानी ,कविता, आलोचना और उपन्यास की 12 पुस्तकों के रचयिता सुवास कुमार का जन्म 1948 में हुआ। संपर्क : 38, शांति निकेतन, क्वाइट लैंड्स, इंदिरा नगर, गच्ची बावली, हैदराबाद-500032

एलर्जी

मैंने 'हाँ' से ही शुरुआत की थी
उस हाँ में बड़ा दम-ख़म था उमंग और उम्मीदें थीं
पूरी धरती हरी-भरी और पूरा आसमान खुला-खुला था
मैं सबको वैसे ही चाहता था जैसे सब मुझे
रोग तब भी थे पर ज़ुकाम से ज़्यादा नहीं
और ज़ुकाम कोई रोग नहीं होता

पर धीरे-धीरे पता नहीं कब और कैसे
मैं 'शायद' पर आ गया
शायद यह ज़ुकाम के जमने का परिणाम था
पकने लगा था कफ़
और शुभचिंतक काढ़े से लेकर गोलियों तक की
करने लगे थे सिफ़ारिश
सताने लगा था मौसम रह रह
गर्मियों में बेतरह तपन महसूस होती थी
जाड़ा भी वैसा ही बर्दाश्त-बाहर
आँख-नाक से पनाले बहाती आती थी बरसात

फिर ऐसा हुआ कि कुछ भी अच्छा नहीं लगने लगा
न धूप न हवा न पानी
धूप सच्ची धूप नहीं लगती थी
हवा में विष पानी में मानो तेज़ाब घुला था
हर चीज़...मसलन खाद्य, ध्वनि, संबंध...को
'नहीं' 'नहीं' कहता हुआ मैं ख़ुद हैरत में था
कि लोग हैरत में क्यों नहीं थे
बहुतों को मुझे देखकर हैरत होती थी
डॉक्टर दमा है या यक्ष्मा तय नहीं कर पा रहे।

क़ाफ़िला

उस क़ाफ़िले के साथ चलने में मुझे डर लगता है
जिसमें जादू के ऊँट चलते हैं
जिन्हें बौने पुचकारते हैं
और जो बौनों को ऊँचा कर देते हैं
चमक उठते हैं बौनों के चेहरे आह्लाद से
फिर वे गंभीर हो जाते हैं यक-ब-यक

जादुई ऊँट की पीठ पर बैठे हुए वे बौने
सँभाल लेते हैं सुनहला राजदंड
और क़ानून बना देते हैं
क़द के बारे में

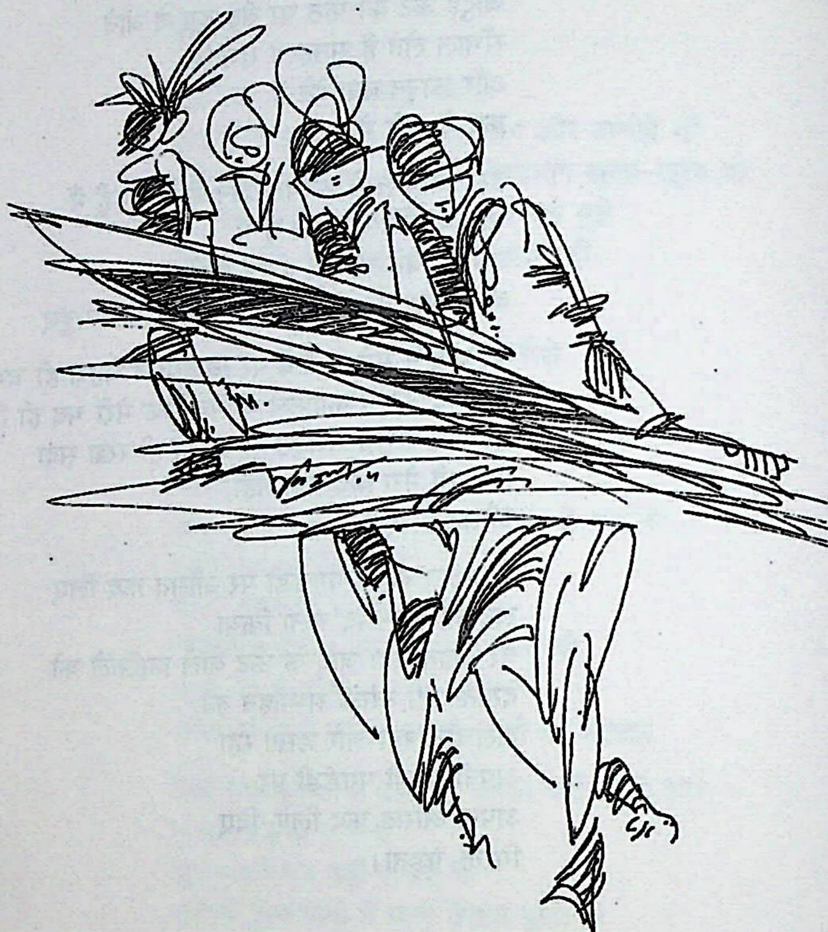
उस क़ाफ़िले में शामिल होने से डरता हूँ मैं
जादू के ऊँट से डरता हूँ मैं
उस पर बैठे बौने से डरता हूँ मैं
और डरता हूँ अपने क़द के बारे में सोचते हुए

मेरे क़द ने मुझे न ऊँचे पर बिठाया न चेहरा ही चमकाया
मेरे क़द ने इस क़ाफ़िले के नज़दीक मेरी भद ही पिटवाई
मेरे क़द ने मुझे राजदंड से वंचित ही रखा सदा
फिर भी मेरा क़द बढ़ा नहीं
औसत ही रहा

मैं अलग कच्ची पगडंडी पर औसत क़द लिए
लदफद भद-भद चला किया
पर देखता रहा जादू के ऊँट वाले क़ाफ़िले को
देखता रहा उसके सम्मोहन को
ललचाता रहा और डरता रहा
अपनी कच्ची पगडंडी पर
अपना औसत क़द लिए-दिए
गिरता-पड़ता।

समय-साँझ

नींद में नहीं, न जाग्रत
ऊँघ में हूँ
जाने कब से चल रहा हूँ सपने में
सचमुच के पाँवों से
कभी स्वीकारता कुछ दृश्य तो
कभी अनदेखता कुछ को
आवाज़ें अपरिचित चौंकातीं विकल
होता उन्हें पहचानने को मगर क्या पहचान पाता?
पहचानना क्या सरल है इस ऊँघ में
सही रंगत सही चेहरा सही आवाज़ें
नहीं पहचान में आती
पास में हैं उन्हें भी दूर से देखा किए
दूर हो या पास रहस्याच्छादित सभी महसूस होते



धीमे सरकते कुहासाऽविष्ट होते
नाचते लगते सभी जड़
और जंगम खड़े मिलते
ऐसे में सही पहचान है मुश्किल

ऊँघ में हूँ : वास्तविक है भ्रम
भ्रम हैं वास्तविक
भूत–जैसा : ऊँघ में हूँ : परे संप्रति से
रहित भवितव्य से
पर किसी को डर नहीं मुझसे
लड़ाई कर नहीं सकता
भलाई कर नहीं सकता
क्योंकि ऊँघ में हूँ
दिन नहीं ना रात है एक बाँझ–साँझ है यह

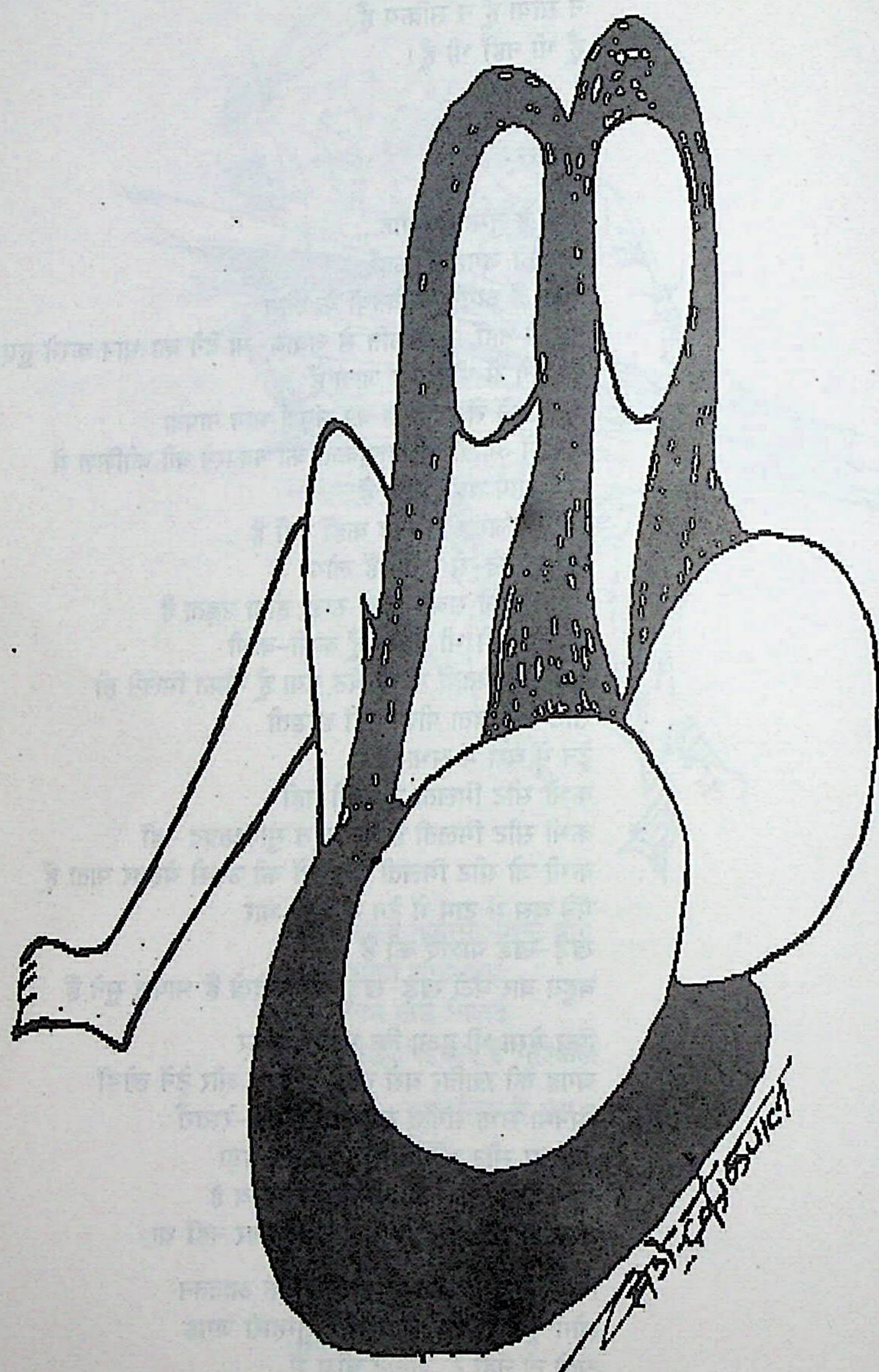
न सोया हूँ न सक्रिय हूँ
हूँ भी नहीं भी हूँ।

जगह

कहाँ है तुम्हारी जगह...
आपकी जगह है कहाँ...
पूछते हैं अगली पंक्तियों के लोग
मुँह से नहीं, मुखाकृति से जवाब-सा देने का भान करते हुए
मैं आगे से पीछे बढ़ जाता हूँ
कनखियों से सभागृह का संपूर्ण भाग नापता
सैकड़ों आँखों की उत्सुकता को नकारने की कोशिश में
पाँव आगे बढ़ते रहते हैं
कहाँ है जगह ? जगह कहीं नहीं है
फुसफुसाते-से लगते हैं लोग
कभी-कभी सबके पीछे खड़ा होना पड़ता है
मध्यभाग में भी बैठता हूँ कभी-कभी
अगली पंक्तियों में भी बैठ गया हूँ मौक़ा मिलते ही
सीट की चिंता पीछा नहीं छोड़ती
ट्रेन में बस में सभाओं में
कभी सीट मिलती है कभी नहीं
कभी सीट मिलती है पर बहुत सुविधाप्रद नहीं
कभी जो सीट मिलती है दूसरों की उससे बेहतर पाता हूँ
मैंने बस में ट्राम में ट्रेन में बहुत बार
खड़े-खड़े यात्राएँ की हैं
बहुत बार घंटों खड़े-खड़े नाटक देखे हैं भाषण सुने हैं

फिर ऐसा भी हुआ कि भीड़ देखकर
जगह की ख़ातिर बसें छोड़ दीं ट्राम और ट्रेनें छोड़ीं
सिनेमा सभा संगीत सम्मेलन होटल-रेस्तराँ
अकसर सीट की कमी से छोड़ना पड़ा
उन्हें छोड़ने के और भी कारण संभव हैं
वरना मैं सीट का हर जगह तलबगार नहीं था

फिर भी ऐसा अकसर होता है कि आदतन
लोग पूछ ही लेते हैं कहाँ है तुम्हारी जगह
आगे तो नहीं ?...शायद बीच में...
सच तो यह है कि कहीं नहीं रखता मैं अपनी जगह सुरक्षित
जगह वहीं है जहाँ मैं हूँ।



सुरेश उनियाल

बिल्ली का बच्चा

उस दिन जब मैं शाम को घर लौटा था तब गेट पर वॉचमेन की गुमटी के पास उसी तरह का जमावड़ा था जैसे आमतौर पर होता था। इस जमावड़े में आमतौर पर सोसायटी में रहने वालों के नौकर, ड्राइवर और उनके दोस्त वग़ैरह होते थे। सोसायटी की मीटिंग्स में कई बार कई तरह से यह सवाल उठाया जा चुका था कि इन लोगों का इस तरह गेट पर इकट्ठा होना ठीक नहीं है। यह सोसायटी की सुरक्षा के लिए ख़तरा भी पैदा कर सकता है। लेकिन ऐसी चर्चाओं का कभी कोई फ़ायदा नहीं हुआ था। ज़्यादा से ज़्यादा केअर-टेकर से कहा जाता कि ऐसा होने से रोके। वह अपनी मजबूरी बता देता कि कोई उसकी बात सुनता ही नहीं है। फिर भी आश्वासन देता कि ऐसा न होने देने की कोशिश करेगा। हम सभी जानते थे कि वह किस तरह की कोशिश करेगा। अकसर वह ख़ुद वहाँ मौजूद मिलता। ऐसा जमावड़ा देखना अब रोज़ की आदत बन गई थी। और अकसर इसे नज़रअंदाज़ कर दिया जाता। आज वे कुछ उत्तेजित-से दिखाई दे रहे थे। मैंने इसकी तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया।

उस शाम को जब बेटी अपनी क्लास से आई तो कुछ ज़्यादा ही पैर पटकती हुई घर में घुसी। मैंने नाराज़गी का कारण जानना चाहा तो बताने लगी, ''नटराजन अंकल के ड्राइवर ने एक बिल्ली के बच्चे के ऊपर ही गाड़ी चढ़ा दी।''

नीचे के जमावड़े के उत्तेजित होने का कारण अब समझ में आ गया था। लेकिन मेरे ख़याल से यह कोई ऐसा मसला नहीं था जिसे लेकर सीरियस हुआ जाता।

''अरे तो क्या हो गया! सोसायटी में बिल्लियाँ बहुत हो गई हैं। कोई बिल्ली का बच्चा भागता हुआ आ गया होगा उसकी गाड़ी के नीचे!''

''नहीं पापा, वह है ही बदतमीज़! इतनी रैश गाड़ी चलाता है कि एक दिन कोई बच्चा भी उसकी गाड़ी के नीचे आ सकता है। इसका तो कोई-न-कोई इलाज करना ही पड़ेगा!'' मेरे ख़याल से वह ज़रूरत से ज़्यादा ही कंसर्न फ़ील कर रही थी। मैंने इस ओर ज़्यादा ध्यान न देकर टीवी पर आ रही ख़बरों पर आँखें गड़ा दीं।

सुरेश उनियाल का जन्म 1947 में हुआ। तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। हिंदी अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : बी-8, प्रेस अपार्टमेंट्स, 23, इंद्रप्रस्थ एक्सटेंशन, दिल्ली 110092

मेरी ओर से कोई ढंग का रिस्पॉन्स न पाकर उसने भाई को फ़ोन किया। वह रास्ते में ही था। कहने लगा कि घर पहुँचकर बात करेगा।

वह आया तो कुछ उसी नाराज़गी वाले अंदाज़ में। वह गेट पर हुई घटना की पूरी रिपोर्ट लेकर आया था। उसका कहना था कि सोसायटी के प्रेसिडेंट से उसने बात कर ली है। वे कह रहे हैं, ज़रूर कोई एक्शन लेंगे।

लेकिन बेटी इतने से संतुष्ट नहीं थी। वह फ़ौरन कोई एक्शन चाहती थी। उसका ख़याल था कि या तो मेनका गांधी को फ़ोन किया जाए या फिर कम-से-कम 100 नंबर पर तो शिकायत की ही जाए।

मेरी दिक़्क़त यह थी कि नटराजन मेरा अच्छा दोस्त था। सोसायटी के कई विवादों में मेरा साथ देता था। मेरे ही दफ़्तर में काम करता था और जब मेरे पास गाड़ी नहीं होती थी तो कई बार उसने मुझे लिफ़्ट भी दी थी। कहने का मतलब है कि एक ऐसे काम की वजह से जिसके लिए वह ख़ुद नहीं, उसका ड्राइवर ज़िम्मेवार था, मैं उसे परेशानी में डालकर उसकी नाराज़गी मोल लेना नहीं चाहता था।

यह तो ठीक था कि उसका ड्राइवर गाड़ी बहुत तेज़ चलाता था। लेकिन उसका हाथ था बहुत साफ़। मेरी जानकारी में तो उसने कभी कोई एक्सीडेंट नहीं किया था। बिल्ली के बच्चे वाला मामला ऐसा पहला मामला था।

लेकिन उसकी कुछ आदतें परेशान करने वाली थीं। जितने समय वह सोसायटी में रहता था, गाड़ी को कभी इधर-कभी उधर करता रहता था। शाम को गाड़ी सीढ़ियों के पास लाकर नटराजन को उतारता। फिर गेट के पास कोई भी ख़ाली जगह देखकर वहाँ लगा देता और गार्ड्स के साथ मज़ाक़ करने लगता। इस बीच उधर से गुज़रने वाली कामवालियों पर भी उसकी टिप्पणियाँ आती रहतीं। घरेलू नौकरों में से सबके साथ उसका व्यवहार एक-सा नहीं था। कुछ के साथ अच्छी दोस्ती थी तो कुछ को परेशान करना भी उसके शगल में शामिल था।

नटराजन का दोस्त होने के नाते मुझे वह देखते ही मुस्कुराकर सलाम करता था। कभी-कभी उसकी ऐसी हरकतों पर मैं उसे टोकता तो वह उसी तरह मुस्कुराकर जवाब देता, "क्या करें सर, ज़िंदगी में हँसी-मज़ाक़ भी तो ज़रूरी है।"

एक दिन देखा वह भाटिया के बेटे से उलझ रहा था। भाटिया के बेटे ने उसका कॉलर पकड़ रखा था और वह भी लाल-लाल आँखों से उसे घूर रहा था। मुझे आता देखकर दोनों नर्म पड़े। भाटिया के लड़के ने उसका कॉलर छोड़ दिया और वह एक क़दम पीछे हो गया।

"क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं अंकल, इससे मैंने कितनी बार कहा कि गाड़ी के लिए जो एक जगह तय है वहाँ खड़ी किया कर। इसे जब देखो, यहाँ से वहाँ करता रहता है। और कुछ कहो तो बदतमीज़ी करने लगता है।"

नटराजन का ड्राइवर मौक़ा देखकर वहाँ से खिसक गया। मुझे भी लगा मामला टल गया। लेकिन टला नहीं था। शाम को देखा कि भाटिया साहब का बेटा नटराजन से उलझा हुआ है। नटराजन उसे समझाने की कोशिश कर रहा है लेकिन वह सुनने के लिए तैयार नहीं है। वह एक ही बात दोहरा रहा है कि अंकल ऐसा नहीं चलेगा। मैंने भी नटराजन को समझाया कि यह ड्राइवर कुछ ज़्यादा ही सिर चढ़ गया है। उसकी और भी शिकायतें आ रही हैं।

लेकिन नटराजन का तर्क भी सही था, "तुम्हारी बात ठीक है! वह दूसरों की क्या मेरी भी नहीं सुनता! लेकिन इतनी-सी बात पर मैं उसको निकाल तो नहीं सकता। इतना अच्छा और भरोसेमंद ड्राइवर मुझे कोई दूसरा मिलने से

रहा। इतना बुरा भी वह नहीं है। वक़्त-बेवक़्त दूसरों की मदद करने के लिए भी हाज़िर रहता है।''

ख़ैर बात आई-गई हो गई। दो-चार दिन नटराजन का ड्राइवर सुधरता लगा लेकिन बाद में उसी पुरानी चाल पर आ गया। उसने इतनी सावधानी ज़रूर रखी कि भाटिया के बेटे की नज़रों के सामने आने से बचता रहा।

बिल्ली के बच्चे वाला यह कांड किसी और ड्राइवर के द्वारा होता तो पता नहीं लोगों की क्या प्रतिक्रिया होती। लेकिन चूँकि यह कांड नटराजन के ड्राइवर से हो गया था तो प्रतिक्रिया कुछ तीखी होनी ही थी।

और फिर हुआ यह कि कार के नीचे आने के बावजूद बिल्ली का बच्चा बच गया था। हालाँकि चोट उसे बहुत आई थी। सोसायटी का केअर-टेकर उसे एक वेटेनरी डॉक्टर के पास ले गया था और उसने उसे पट्टी आदि कर दी थी। बिल्ली के उस बच्चे को गेट के पास ही एक बेंच के नीचे लिटा दिया गया था। कोई-न-कोई उसके पास हमेशा रहता था। कभी कोई गार्ड तो कभी किसी के घर का नौकर। उसके इलाज के लिए कई लोगों ने पैसे जमा करके केअर-टेकर को दे दिए थे। मुझे पहली बार पता चला कि हमारी सोसायटी में इतने पशु प्रेमी भी हैं।

लेकिन बिल्ली के बच्चे के गेट के पास पड़े होने से होता यह था कि आते-जाते सबकी नज़र उस पर पड़ती रहती और इस बहाने नटराजन के ड्राइवर की उस लापरवाही के प्रति उनके मन में ग़ुस्सा भी बनता। जिसकी गाड़ी सहानुभूति में थोड़ी धीमी होती दिखती, केअर-टेकर या कोई चौकीदार या किसी घर का नौकर पास आकर कहता, ''आज तो काफ़ी बुरी हालत है बच्चे की! बचना मुश्किल लगता है!''

बिल्ली के बच्चे के प्रति सहानुभूति का पूरा माहौल तैयार हो रहा था। जो लोग नटराजन के ड्राइवर से किसी भी बहाने नाराज़ रहते, वे ज़्यादा मुखर होने लगे थे। कुछ ऐसे लोग जो शुरू में उदासीन लग रहे थे, अब नटराजन के ड्राइवर की रैश ड्राइविंग के आलोचक हो गए थे।

नटराजन का मानना था कि यह सब केअर-टेकर का किया-धरा है। वह कोई इतना बड़ा पशु प्रेमी नहीं है। उसे तो ड्राइवर के ख़िलाफ़ लोगों को भड़काने का बहाना चाहिए था। वरना तभी उसे सोसायटी के स्वीपर से कहीं बाहर फिंकवा देता।

बात जो भी हो, नटराजन के ड्राइवर के ख़िलाफ़ एक लॉबी सक्रिय हो गई थी। सोसायटी के प्रेसिडेंट तो भाटिया साहब ही थे तो तय हुआ कि इस बात को सोसायटी की मैनेजिंग कमेटी में उठाया जाए और नटराजन को बाध्य किया जाए कि वह इस ड्राइवर को निकाल दे।

सोसायटी से किसी नौकर को निकलवाने का एक प्रेसिडेंस था। एक फ़्लैट में एक बुज़ुर्ग महिला अकेली रहती थी। उसका एक नौकर था। वैसे वह काफ़ी शातिर दिमाग़ का था। उसने कुछ नौकरों के साथ मिलकर एक गैंग जैसा बना लिया था। यह गैंग किसी ऐसे घर में दिन में इकट्ठा होता था जिसके सब लोग बाहर काम पर जाते हों। वहाँ वे लोग शराब पीते थे और ब्लू फ़िल्में देखते थे। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना था कि वहाँ कुछ काम वालियाँ भी जाती हैं लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं मिला।

मामला तब गंभीर हुआ जब सोसायटी का एक परिवार कुछ दिनों के लिए बाहर गया था और अपने घर की चाबियाँ इस बुज़ुर्ग महिला के पास छोड़ गया था। जब वे लोग लौटे तो उनकी अलमारी से सोने के ज़ेवर ग़ायब थे। उस बुज़ुर्ग महिला से बात की गई तो उसका कहना था कि उसे इस बारे में कुछ पता नहीं है। उसके नौकर पर शक किया गया तो वह पूरी तरह से उसके बचाव में आ गई। मामला पुलिस में गया। पुलिस उस नौकर को और कुछ दूसरे नौकरों को पकड़कर ले गई। वहाँ पुलिस की मार के आगे

वे सब बक गए। वह ब्लू फ़िल्म देखने वाला मामला भी तभी खुला।

सोसायटी की मैनेजिंग कमेटी की मीटिंग में तय हुआ कि ऐसा ख़तरनाक आदमी सोसायटी के लिए भविष्य में और भी मुसीबतें लेकर आ सकता है लिहाज़ा उसके सोसायटी में घुसने पर ही रोक लगा दी जाए।

जिन मिसेज़ सिंह का वह नौकर था, उन्हें इस फ़ैसले की सूचना दे दी गई थी। उन्हें तो यह कहकर डराया भी गया था कि जब वह इतना फ़ितरती है तो क्या पता किसी दिन उनका गला घोंटकर उनके घर का माल-मत्ता लेकर ग़ायब हो जाए। लेकिन उन्हें अपने नौकर पर पूरा भरोसा था। वह उसे निकालने के लिए बिलकुल तैयार नहीं थीं। आख़िर उससे कहा गया कि नौकर ने जो कुछ किया है, दो-चार साल तो उसे अंदर होने से कोई नहीं बचा सकता। लेकिन अगर वह चाहे तो इस शर्त पर मामला वापस लिया जा सकता है कि छूटने के बाद वह उसे लेकर कहीं और रहने चली जाएगी।

यह बात मिसेज़ सिंह ने मंजूर कर ली और सोसायटी को एक अवांछित तत्त्व से छुटकारा मिल गया।

इस प्रेसिडेंस को देखते हुए सोसायटी के लोगों का एक वर्ग नटराजन के ड्राइवर को भी अवांछित तत्त्व घोषित कराने के लिए कमर कसे हुए था। इनमें ज़्यादातर उत्तर भारत के लोग थे। उधर नटराजन के ड्राइवर को बचाने के लिए भी एक लॉबी तैयार हो रही थी। इसमें ज़्यादातर दक्षिण भारतीय थे। लेकिन यह ज़्यादा मुखर लॉबी नहीं थी।

मेरी दिक़्क़त यह थी कि उत्तर भारतीय होने के नाते मुझसे उम्मीद की जाती थी कि मैं ड्राइवर को निकालने में उनका साथ दूँगा। नटराजन का दोस्त होने के नाते दक्षिण भारतीय लॉबी का दबाव भी मुझ पर था।

नौजवान पीढ़ी की भी एक लॉबी तैयार हो गई थी। ये सभी लोग भाटिया जी के बेटे के प्रभाव में थे और नटराजन के ड्राइवर को सोसायटी में एक दिन भी बर्दाश्त करने के मूड में नहीं थे। मेरे अपने बच्चे उनके साथ थे और मेरे ढुलमुल रवैये को लेकर मुझसे नाराज़ थे।

एक दिन उत्तर भारतीय लॉबी ने तय किया कि कुछ लोग नटराजन के घर जाकर उनसे सीधे बात करें कि वह अपने ड्राइवर को निकाल दे। और अगर वह तैयार नहीं होता तो उसे धमकी दे दें कि उसे भी श्रीमती सिंह की तरह सोसायटी छोड़कर जाना पड़ेगा।

इस प्रतिनिधि मंडल में शामिल होने के लिए मुझे भी बुला लिया गया। मैंने समझाने की कोशिश की, "श्रीमती सिंह और नटराजन के मामले को एक ही कसौटी पर नहीं रखा जा सकता। पहली बात तो यह थी कि श्रीमती सिंह सोसायटी में फ़्लैट किराए पर लेकर रह रही थीं। उनके लिए कहीं दूसरे फ़्लैट में जाकर शिफ़्ट करना मुश्किल नहीं था। जबकि नटराजन सोसायटी के सदस्य हैं और यह उसका अपना फ़्लैट है। और फिर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि नटराजन सोसायटी के फ़ाउंडर मेंबर्स में से हैं। कंस्ट्रक्शन के दौरान जितनी दौड़-भाग उसने की शायद ही किसी और ने की होगी। अब भी सोसायटी की जो ज़िम्मेदारी उसे दे दो, दूसरों से ज़्यादा भरोसे के साथ पूरा करता है। ऐसे आदमी के साथ, उसके नहीं, उसके ड्राइवर की किसी हरकत पर ऐसा व्यवहार करना मुझे तो कहीं से भी उचित नहीं लगता।" मेरी इस बात से कई लोग सहमत थे। लेकिन कुछ वह लोग जिन्होंने बाद में मोटी रक़म देकर पावर ऑफ़ एटॉर्नी पर फ़्लैट लिए थे, मेरी बात से ज़्यादा सहमत नज़र नहीं आए।

दो महिलाएँ किसी जानवर पर किए गए इस अत्याचार से बहुत नाख़ुश दिखाई दे रही थीं और अपने तीखे तेवरों के साथ किसी भी क़ीमत

पर समझौते के लिए तैयार नहीं थीं। किसी ने बताया था कि ये एक बार नटराजन की पत्नी से उलझ भी चुकी थीं। इस बात से नटराजन काफ़ी नाराज़ था। उसका मानना था कि एक छोटी-सी घटना को तूल देकर कुछ लोग उससे पुराने हिसाब सेटल करना चाहते हैं।

मुझे तो यह डर लगने लगा था कि यह प्रतिनिधि मंडल मामले को सुलझाने के बजाय ज़्यादा ही उलझाने का काम न करे।

पाँच लोग आ गए थे और दो का इंतज़ार था। मुझे बेहतर लगा कि इस बीच मैं अकेले में नटराजन से बात कर लूँ और उसे मना लूँ कि बातचीत करते हुए वह धैर्य न खोए, कूल रहे। मैं जानता था कि नटराजन मेरी बात नहीं टालेगा।

मैंने उसके घर की घंटी बजाई तो दरवाज़ा उसकी पत्नी ने खोला। पता चला कि वह एक हफ़्ते के लिए हैदराबाद गया हुआ है। इधर-उधर की दो-चार औपचारिक बातें करके मैं वहाँ से वापस आ गया।

प्रतिनिधि मंडल को जब पता चला कि नटराजन शहर में ही नहीं है तो कुछ ने मेरी तरह राहत की साँस ली तो कुछ 'एक हफ़्ते बाद देख लेंगे' वाले अंदाज़ में मुझे घूरने लगे। बात अब एक हफ़्ते बाद पर टल गई।

अगले दिन जब गेट के पास बिल्ली का बच्चा दिखाई नहीं दिया तो गार्ड से पूछा। पता चला कि बिल्ली का बच्चा मर गया है। और स्वीपर उसे उठाकर ले भी गया है।

गेट पर रहने वाले जमावड़े के पास अब बिल्ली के बच्चे के बारे में बात करने के अलावा और विषय भी आ गए थे। लोगों ने भी गेट के पास अपनी गाड़ियाँ धीमी करके बिल्ली के बच्चे के बारे में पूछने का सिलसिला बंद कर दिया था। सब जानते थे कि वह बच्चा मर गया है जिसे नटराजन के ड्राइवर ने कुचला था, लेकिन उनके स्वर में वह कंसर्न कहीं ग़ायब हो गया था।

नौजवान पीढ़ी ने भी नटराजन के ड्राइवर को सबक सिखाने की अपनी प्रतिज्ञा जैसे भुला दी थी। चार-पाँच दिन बाद तो किसी को याद भी नहीं था कि ऐसी कोई घटना घटी थी।

एक हफ़्ते बाद नटराजन हैदराबाद से आया तो किसी ने न तो व्यक्तिगत रूप से इस बारे में बात की और न प्रतिनिधिमंडल के साथ। उसका ड्राइवर कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। नटराजन से पूछा तो उसने बताया कि वह अपने गाँव गया हुआ है। उसका पिता बीमार है। लौट आएगा।

और कुछ दिन बाद नटराजन का ड्राइवर भी लौट आया। उसमें कोई बदलाव नहीं आया था। अब भी जितने समय वह सोसायटी में रहता, उसी तरह गाड़ी को कभी इधर कभी उधर करता रहता था। शाम को गाड़ी सीढ़ियों के पास लाकर नटराजन को उतारता फिर गेट के पास कोई भी ख़ाली जगह देखकर वहाँ लगा देता और गार्ड्स के साथ मज़ाक़ करने लगता। इस बीच उधर से गुज़रने वाली कामवालियों पर भी उसकी टिप्पणियाँ आती रहतीं।

अब भी भाटिया जी का लड़का उससे नाराज़ रहता और धमकी देता रहता कि उसे सोसायटी से निकलवाकर रहेगा और वह उसकी बात पर उसी तरह मुस्कुराता हुआ निकल जाता।

सुभाष चंद्र कुशवाहा

गले में पट्टा

अब गाँव में अँधेरा पसरने के साथ ही चुप्पी पसर जाती है। चुप्पी ऐसी, जो दीमक की तरह जीवंतता को चाट जाती है। बुड्ढों के पास सुनाने के लिए अब क़िस्से-कहानियाँ नहीं हैं। ईर्ष्या के कवक हैं, जो चकत्तों की भाँति गँवई ज़िंदगी में खुजलाहट पैदा कर रहे हैं। हर कहीं पड़ोसी के घर की खुसर-फुसर है, हँसी और आह है, निंदा और द्वेष है। अब चौपाल नहीं लगते। लोग एक-दूसरे के दरवाज़े पर नहीं आते-जाते। हँसी-मज़ाक़ लकवाग्रस्त हो चला है। अब आप इसे व्यस्तता समझें या समरसता की कमी या स्वार्थ, ईर्ष्या और डाह का वैश्वीकरण। सोरठी बृजभार या आल्हा कोई नहीं गाता। चईता गायकों की मंडलियाँ भी बिखर गई हैं। इधर-उधर से 'काँटा लगा'...या 'कलियों का चमन..., ...थोड़ा रेशम लगता है, थोड़ा शीशा लगता है...' किसी टेप से छनकर हवा में बेचैनी घोल देता है। बेरोज़गार एवं मनचले लड़कों के पास कोई काम नहीं है। दिन भर ताश के पत्ते फेंटे जाते हैं। सिगरेट और गुटकों के लिए मारपीट होती है। कच्ची के बजाय इधर-उधर से छीना-झपटी, दलाली, राहजनी या दादागिरी के बल पर पक्की का जुगाड़ हो जाता है। हा-हा, ...ही-ही के साथ-साथ साले, हरामी भी सुनाई देता है कभी-कभी।

विकास के नए दौर के पदचिह्न भी इधर-उधर दिखाई देने लगे हैं। यथा, युवकों के पास चाक़ू के बजाय कट्टे हैं। कबड्डी, फुटबॉल की जगह बैट-बॉल हैं। अँधेरे को डराने के लिए बिजली के खंभे हैं जो सड़क के किनारे खड़े दिखाई देते हैं। बिजली कभी-कभार घंटे, आधे घंटे के लिए आती है और विकास की हाज़िरी लगाकर चली जाती है। वह भी बेवक़्त। यानी कि जब गाँव सो चुका होता है। किसी-किसी गाँव में टेलीफ़ोन केबल भी बिछने लगी है।

राम अवतार चारपाई पर पसर चुका है, पर सोया नहीं है। सोए तो कैसे? आज उसकी बीवी लक्ष्मी, फिर तगादा जो कर रही है। कई दिन से वह एक ही रट लगाए हुए है, "यही सही वक्त है परधान जी से बात कर लेने का।...लोग सो चुके हैं। कोई देखेगा भी नहीं।...परधान जी देर तक जागते हैं। पुरानी बातों को ढोने से कोई फायदा है का। मौका हाथ से निकल जाएगा तो फिर ज़िंदगी

सुभाष चंद्र कुशवाहा का जन्म 1961 में हुआ। कविता, कहानी आदि की पाँच पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 1-ए, अरविंद मार्ग, देहरादून

भर पछताना पड़ेगा।'' मरद को समझाती है लक्ष्मी। राम-अवतार हमेशा की तरह ख़ामोश रहता है।

''का सोच रहे हो। सोचने-वोचने से कुछ नहीं होगा। तुझे पता है, धनेस-ब बता रही थी कि उसके मरद ने पाँच हजार दिए हैं परधान जी को, एक कट्ठे के लिए। परधान जी ने आश्वासन भी दे दिया है, चुनाव के पहले पट्टा कर देंगे।...वहीं,...मजार के पास, सड़क के किनारे वाली जमीन का। आने-जाने की सुविधा तो है ही, सड़क का किनारा भी काम आएगा, भैंस तो वहीं बँध जाएगी। मजार के पास अभी चार कट्ठे बंजर जमीन और हैं। तुम आज मिल लो। महीपाल बाबू कर्जा दे देंगे। आज तक मना नहीं किया है तो इस बार भी मना नहीं करेंगे। बगैर दिए काम नहीं बनेगा।...धनेस-ब बता रही थी, ऊपर भी देना पड़ता है। परधान जी सब अकेले थोड़े खा जाएँगे ? लेखपाल, पटवारी कानूनगो... सबको खुश करना पड़ता है।''

लक्ष्मी की बात को चुपचाप सुन रहा है राम अवतार। मुँह से आवाज़ नहीं फूटती। बुद्धि काम नहीं करती। पता नहीं क्या सोच रहा है वह। लक्ष्मी प्रतिक्रिया के इंतज़ार में बेचैन है। आख़िर, उसके सब्र का बाँध टूटता है। वह अपने बाएँ हाथ से राम अवतार के दाएँ हाथ को हिला देती है। ''अगर बात पाँच हजार से ऊपर पर बनती है तब भी सोचना-विचारना नहीं, हाँ कर देना। सोने की झुलनी के हजार रुपए मिल ही जाएँगे। अब वैसे भी झुलनी कोई नहीं पहनता। बहुओं के भी काम न आएगी। रखे-रखे चोरी चली गई तो और आफत।'' आज लक्ष्मी को झुलनी से निर्मोह हो चुका है। वे दिन भी राम अवतार को ठीक-ठाक याद हैं, जब झुलनी के लिए लक्ष्मी ने कितना मान-मनुहार किया था। एक दिन तो वह नाराज़ भी हो गई थी। खाना नहीं खाया था। तब उसे राम अवतार ने बहुत मनाया था, ढाँढ़स बँधाया था, ''इस बार बंबई से कमाकर लौटते ही झुलनी बनवा दूँगा। झूठ बोलूँ तो कौआ काटे। मर्द की पक्की जुबान, समझी !'' राम अवतार ने वादाख़िलाफ़ी नहीं की थी। बीस साल पहले की बात होगी, चैत्र महीने में लौटा था बंबई से कमाकर पल्लेदारी के ज़ख़्मों को पीठ पर लिए हुए। आते ही लक्ष्मी का अरमान पूरा कर दिया था राम अवतार ने। आज वह लेटे-लेटे सोच रहा था कि पत्नी को दुनियादारी की अच्छी समझ आ गई है। अब उसे ख़ुद से आसक्ति नहीं है। आगा-पीछा सोचने लगी है लक्ष्मी। बेटे-बहुओं की फ़िक्र करने लगी है। बग़ैर दिए काम नहीं बनेगा। लक्ष्मी की बात देर तक उसके मस्तिष्क में टहलती रहती है।

अँधेरा और गहरा हो गया है। सन्नाटा छा गया है। राम अवतार छप्पर पर नज़र गड़ाए लेटा है। अँधेरे में कुछ दिखाई नहीं देता। बहू अंदर सोने चली गई है। दोनों बेटों की चारपाई बरामदे में बिछी है। अमर शायद सो चुका है, लेकिन महेश अभी करवट बदल रहा है। चक्कर में है, बीवी के कमरे में जाए तो कैसे ? माई, बाबू जी के पास झोंपड़ी में बैठी है। झोंपड़ी से आ रही फुसफुसाहट की ओर महेश के कान हैं।

खपरैल के इस मकान में दो सुरंगनुमा कमरे हैं। इनकी दीवार और फ़र्श मिट्टी के हैं। ऊपर बाँस की खपच्चियों पर छत टिकी है, जिनमें दिन में भी अँधेरा रहता है। खपरैल के कच्चे मकान में चौड़ी खिड़कियाँ नहीं होतीं, एकाध जंगले होते हैं, जिन पर अकसर कोई न कोई चीज़ सजा दी जाती है, जैसे डलिया, मोनिया या झँपोली।

यह राम अवतार का पुस्तैनी घर है। पहले इसका आकार बड़ा था, पाँच कमरे, बड़ा-सा आँगन और आगे बरामदा। बँटवारे में तीन कमरे, आँगन और बरामदे का ज़्यादा हिस्सा बड़े भाई के पास चला गया था। चूँकि माई-बाबू जी, बड़े भाई के साथ रहना चाहते थे, इसलिए उनके लिए भी मकान का कुछ हिस्सा दिया गया था।

अब माई इस दुनिया में नहीं है, बाबू जी हैं जो अब भी बड़े भाई के साथ रहते हैं।

इस छोटे से मकान के एक कमरे में लक्ष्मी सोती है, उसी में चूल्हा भी जलता है। चूल्हे से निकले धुएँ से बाँस की खपच्चियों का रंग, लक्ष्मी के चेहरे की तरह काला हो चला है। दूसरा कमरा बहू के लिए है। दोनों कमरों को छोटे-से आँगन ने आमने-सामने बाँट रखा है। आँगन के कोने में पनडोहा है, जहाँ बरतन धोया जाता है। पनडोहे का पानी पहले पिछवाड़े की ओर बहा दिया जाता था, सालिम मियाँ के खेत में। अब सालिम मियाँ ने रोक दिया है। दूसरे के घर का पानी, अपने खेत में कौन बहने देता? इस समस्या के समाधान के लिए राम अवतार ने सड़क पर गड्ढा खोद लिया है। पनडोहे का पानी उसी में जमा होता है। गड्ढा भर जाता है तो सड़क पर उलीच दिया जाता है। इस कारण प्रधान जी से कई बार तकरार हो चुकी है। प्रधान ने कई बार धमकाया भी है, पर राम अवतार के पास अन्य समाधान नहीं है।

महेश को माई के सोने का इंतज़ार करना पड़ता है। तब कहीं दबे पाँव जाता है बीवी के कमरे में। फिर भी कभी-कभी बहू की चारपाई की चरमराहट लक्ष्मी के कानों में उतर आती है। अजीब-सा लगता है तब। पर करे क्या? और कोई आश्रय नहीं है। यहीं गुज़र-बसर करनी है। गर्मी के मौसम में तो वह द्वार पर चारपाई बिछा लेती है। पर जाड़े या बरसात के मौसम में अंदर सोना ही पड़ता है।

जब तीनों बेटियों की शादी नहीं हुई थी, तब बहू वाले कमरे में दोनों बेटे सोते थे। रसोईघर में लक्ष्मी बेटियों के साथ चटाई बिछाकर काम चला लेती थी। तब बरामदा राम अवतार के हिस्से में हुआ करता था। लक्ष्मी कभी-कभार बरामदे में ही उसकी बाँहों में समा जाती थी। बहू के आने के ठीक पहले, राम अवतार ने दरवाज़े के सामने भैंस की घारी के बग़ल में झोंपड़ी बना ली थी और अपनी चारपाई बरामदे से उठाकर वहीं डाल ली थी। अब बरामदे की ख़ाली जगह पर दो चारपाइयाँ डाल दी गई हैं, एक महेश के लिए और दूसरी अमर के लिए। बेटियाँ अपने-अपने घर चली गई हैं। सिर्फ़ अमर कुँआरा है। वैसे वह भी जवान हो चुका है। देखनहरू आने लगे हैं। अगुवा परेशान कर रहे हैं। गाँव में शादी के लिए अठारह वर्ष की उम्र कम नहीं होती। लक्ष्मी की बेचैनी का कारण भी यही है। छोटी बहू की चारपाई कहाँ बिछेगी? फिर लड़कों का परिवार बढ़ेगा, यही सोच-सोचकर परेशान है लक्ष्मी।

गाँव में आबादी की ज़मीन नहीं बची है। चकबंदी के समय आबादी की छोड़ी गई ज़मीन, बीस वर्षों में सिमट गई है। बढ़ती आबादी एवं पारिवारिक बँटवारों से बसने-बसाने की समस्या खड़ी हो गई है। जिनकी ज़मीन सड़क के किनारे है, उनके लिए समस्या नहीं है। परंतु जो भूमिहीन हैं, जिनकी ज़मीन गाँव से दूर है, सड़कों या चकरोडों के किनारे नहीं है, उनके लिए समस्या है।

मज़ार के पास जो चार-पाँच कट्ठे बंजर ज़मीन है, उसका अभी पट्टा नहीं हुआ है। पहले वहाँ सरकारी अस्पताल बनने वाला था। लेकिन प्रधान ने रुचि नहीं ली। लिहाज़ा अस्पताल, पड़ोसी ग्राम सभा में स्थानांतरित हो गया और यह टुकड़ा बचा रह गया। यह ज़मीन गाँव से बाहर ज़रूर है, पर गाँव से सटी हुई है। साथ ही साथ गाँव को जोड़ने वाली सड़क पर स्थित है। रास्ते की समस्या नहीं है। कइयों की निगाहें इस पर हैं। लक्ष्मी भी चाहती है कुछ ले-देकर बात बन जाए। कट्ठे भर का पट्टा हो जाए तो तीन कमरे बन ही जाएँगे। एक कमरे में भैंस की घारी, एक में अमर का परिवार, एक में वे बुड्ढे-बुढ़िया रह लेंगे। महेश का परिवार इस पैतृक मकान में गुज़र-बसर कर लेगा।

आजकल गाँव में रास्ते की समस्या बढ़ गई है। वैसे तो चकबंदी के समय कुछ चकरोड बने थे, पर बाद में प्रभावशाली लोगों द्वारा क़ब्ज़ा कर लिया गया। क़ब्ज़ा किए गए चकरोडों को कोई प्रधान ख़ाली नहीं करा पाया। कई बार मामला उठा। परंतु हर बार मोल-तोलकर दबा दिया गया। अब गाँव की मुख्य सड़क का आकार भी सिकुड़ गया है। हर कोई सड़क की ओर पाँव फैला रहा है। बखार सड़क पर, नाँद सड़क पर, पनडोहा सड़क पर, और तो और, घर का गंदा पानी भी सड़क पर।

कितने शासनादेश आए और दफ़न हो गए। आला अफ़सरों के निर्देशों पर कभी-कभार नायब, तहसीलदार की गाड़ियाँ धूल उड़ा गईं। पटवारी, लेखपालों के रिकॉर्ड चुस्त-दुरुस्त हो गए। तहसील दिवसों में शिकायतें हुईं और निस्तारित हो गईं, परंतु हालात सुधरे नहीं, रास्ते सिकुड़ते गए। अब आए दिन इन्हीं बातों को लेकर झगड़े होते हैं, गाली-गलौज होती है, एक-दूसरे पर इल्ज़ाम लगाए जाते हैं। पंचायत में अब मामले नहीं सुलझते, थाने, कोर्ट-कचहरी तक जाते हैं। फिर तो कइयों के चाय-नाश्ते का जुगाड़ हो जाता है। प्रधानी के चुनाव में हारे हुए प्रत्याशी, पुराने ज़मींदार और कुछ पढ़े-लिखे दलाल टाईप लोग हितैसी बन, सक्रिय हो जाते हैं। सिफ़ारिश, जोड़-तोड़, लेन-देन और पैरवी शुरू हो जाती है। थानेदार और वकीलों की ही चाँदी नहीं होती, दलाली में दलालों को भी कुछ न कुछ लाभ प्राप्त होता है। पूर्व प्रधान लक्ष्मण राय और वर्तमान प्रधान नरेंद्र राय की मोटर साइकिल अकसर थाने पर खड़ी दिखाई देती है।

लक्ष्मी अभी भी बैठी हुई है। मरद पर ग़ुस्सा आ रहा है, ''नेतागिरी करनी हो, परधान जी के खिलाफ बोलना हो तो, जुबान तेज हो जाती है, बुद्धि काम करने लगती है! अपने काम के लिए बोली नहीं फूटती, अकल काम नहीं करती... निठल्लू कहीं का!''

''कल सोचेंगे!'' राम अवतार ने सांत्वना दी और करवट बदलकर सो गया। लक्ष्मी को अच्छा नहीं लगा। फिर भी उसने और तगादा करना उचित नहीं समझा और झोंपड़ी से बाहर निकल आई। हमेशा की तरह वह सोने के पहले घारी में गई थी। कौड़े से निकलता धुआँ सुस्त पड़ चुका था और भैंस पर मच्छरों ने आक्रमण तेज़ कर दिया था। भैंस जुगाली करती हुई विरोध कर रही थी, जब-तब पूँछ फटकार रही थी। फिर भी मच्छर बेख़ौफ़ थे। लक्ष्मी ने आग खोरा। कौड़े पर भूसा डाला, फिर खैंची से हवा दी और धुआँ तेज़ कर सोने चली गई।

नरेंद्र राय चार साल से प्रधान हैं, पाँचवा साल चल रहा है। पिछली बार यह सीट अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित थी। इसलिए पाँच वर्ष के अंतराल के बाद दूसरी बार प्रधान बने थे नरेंद्र राय। अब तीसरी बार प्रधान बनने का समीकरण बैठाना शुरू कर दिया है। आठ माह बाद ही तो चुनाव है।

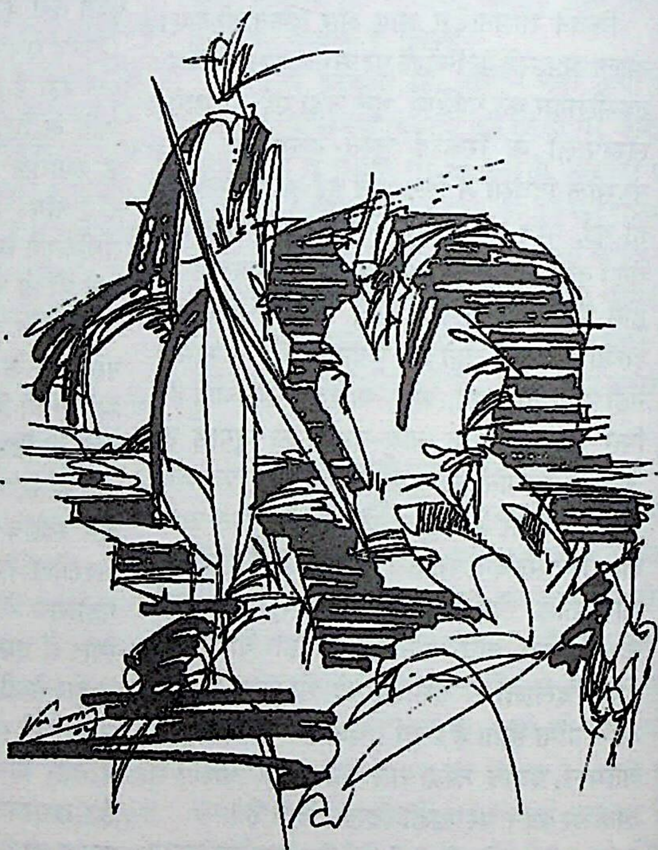
गाँव के कुछ आवारा और बेरोज़गार लड़के नरेंद्र राय के चेले हैं। इन्हें पाउच के साथ-साथ अंग्रेज़ी भी मिलती है। विकास के कुछ पदचिह्न यहाँ भी दिखते हैं। पहले की तरह अब नौटंकी नहीं होती, वीडियो चलता है। ख़ास युवकों को राय साहब का बड़ा बेटा, अपनी बैठक में अश्लील फ़िल्में भी दिखाता है। दुर्गा पूजा महोत्सव में नाच-गाने का बंदोबस्त होता है। साल में एक बार भगवती जागरण भी होता है। बिहार से टीमें बुलाई जाती हैं। नई-नई धुनों पर, माइक की बुलंद आवाज़ में रातभर जागरण होता है और कभी-कभी बकरा या मुर्ग़ा भी कटता है। ख़ासकर जब चुनाव क़रीब हो तो हर रात दावत होती है। द्वार पर ही कंडे सुलगा लिए जाते हैं। फिर लिट्टी और गोश्त पकता है और केले के पत्तों को बिछाकर पंगत बैठ जाती है। राय साहब इन पर यूँ ही मेहरबान नहीं रहते, ये चेले-चाटी ही उनकी असली ताक़त हैं, उनके हाथ-पाँव हैं।

चेले अभी से चर्चा कर रहे हैं, "इस बार पाउच से काम नहीं चलेगा। हम लोगों के लिए ह्विस्की, औरों के लिए पाउच। चुनाव प्रचार के लिए मूड ठीक होना चाहिए। कुछ नए कट्टे-कारतूस भी चाहिए। क्या पता, वक्त जरूरत काम आए।"

राम अवतार की नरेंद्र राय से नहीं पटती। ग़रीबी ने खुद्दारी कम नहीं की थी। उसे छल-कपट पसंद नहीं। धूर्त और बेईमानों का विरोध करने से वह डरता नहीं। वह जानता है कि नरेंद्र राय धूर्त और बेईमान है। जवाहर रोज़गार योजना की कमाई के कारण वह प्रधान बने हैं। पहली प्रधानी में ही उन्होंने क्या नहीं किया था। गाँव के तालाबों को चहेतों को दे दिया। शिक्षामित्र के पद पर द्वितीय श्रेणी इंटर पास लड़कों को रखवाया। ग्रैजुएट एवं मेधावी लड़के मुँह ताकते रहे। विधवा पेंशन दिलवाने में विरोधियों के पर कतरे।

उन्होंने गाँव के मुख्य मार्ग पर एक पुलिया का निर्माण दिखाया था। पूरे पचहत्तर हज़ार ख़र्च दिखाए गए थे इस काम में। परंतु गाँव वालों को इस तथ्य की जानकारी नहीं थी। दरअसल पुलिया के नाम पर वहाँ सीमेंट का पाइप डालकर मिट्टी पाट दी गई थी। तब राम अवतार सरपंच था। ब्लॉक से उसे इस तथ्य की जानकारी मिली तो उसने ग्राम सभा की मीटिंग में इस तथ्य को उजागर कर दिया। नरेंद्र राय की बदनामी तो हुई ही, पैसे भी ख़र्च हुए। राम अवतार का मुँह बंद करने की कोशिशें हुईं। पेशगी का लालच दिया गया। बात नहीं बनी तो डराया-धमकाया गया। परंतु वह झुका नहीं। शिकायत ज़िला अधिकारी तक गई। जाँच बैठाई गई। नरेंद्र राय को ऊपर तक ख़र्च करना पड़ा। एस.डी.एम., तहसीलदार, नायब तहसीलदार, पटवारी, लेखपाल सबने हिस्सा लिया। फिर बचने के रास्ते सुझाए गए। जाँच लंबी खींची गई। पाइप के ऊपर, दोनों ओर पुश्ते बनाकर पुलिया की शक्ल दी गई, खड़ंजा हुआ और तब किसी तरह मामला दबाया जा सका।

नरेंद्र राय तभी से खार खाए हुए हैं। हमेशा मौक़े की तलाश में रहते हैं। कब मौक़ा मिले और राम अवतार का दिमाग़ ठीक किया जाए।



छोटे आदमी की हिम्मत अगर बढ़ती रही तो बड़े आदमी की इज़्ज़त, मर्यादा कौन करेगा? छोटे लोग सर पर हगेंगे, मूतेंगे।

नरेंद्र राय की फ़िलॉसफ़ी, भूमिहारों को बहुत भाती है। सिर्फ़ इसलिए नहीं कि वे भूमिहार

बिरादरी के हैं, बल्कि इसलिए कि वे बड़े-छोटे में फ़र्क़ समझते हैं।

"नहीं, नरेंद्र राय उसे पट्टा नहीं देंगे। हरगिज नहीं। पाँच हजार क्या, दस हजार में भी नहीं।" राम अवतार सोचता है कि वह बेवकूफ़ नहीं है। चिंता उसे भी है। लेकिन कुछ सोच-विचारकर ही वह प्रधान के आगे हाथ नहीं फैलाना चाहता। राम अवतार, मन में उभर रहे सवालों का जवाब देता है।

"चंपा की माई बता रही थी, एक कट्ठे का पट्टा उसे भी मिल रहा है। चानमती से पता चला है कि उसके मरद ने भी पाँच हजार रुपए दिए हैं। अब तुम ज्यादा सोच-विचार मत करो। यही रेट चल रहा है। कहो तो मैं ही...। नहीं, यह ठीक न होगा। परधान जी क्या सोचेंगे? औरत को भेज दिया, खुद नहीं आया। मक्कार कहीं का...रस्सी जल गई, पर बल नहीं गया।...तुम उनके दरवाजे पर जाओगे तो, कुछ न कुछ तो लिहाज करेंगे ही।" लक्ष्मी समझाती है।

राम अवतार को लक्ष्मी की बात पचती नहीं। "वह और नरेंद्र राय के दरवाजे पर...कदापि नहीं। पट्टे के लिए इतना गिर जाएगा राम अवतार...नहीं। दिनेश क्या सोचेगा? नरेंद्र राय को इस बार तो हराना ही है। पिछला हिसाब बराबर करना है। पिछली बार दिनेश हार गया था। जोड़-तोड़ के आगे टिक नहीं पाया। पर इस बार ऐसा नहीं होगा। पट्टे के लिए वह नाक नहीं रगड़ेगा। दिनेश जीत जाए तो बात अपने आप बन जाएगी।" राम अवतार सोचता है।

दिनेश, राम खेलावन और राम अवतार का पुराना मित्र है। हाई स्कूल तक तीनों साथ-साथ पढ़े हैं, साथ-साथ खेले हैं। घर-गृहस्थी के बोझ ने राम खेलावन और राम अवतार को आगे बढ़ने नहीं दिया, परंतु दिनेश किसी तरह स्नातक तक पहुँचने में सफल रहा। नौकरी नहीं मिली तो गाँव में ही राइस मिल चलाता है।

"राम अवतार भाई! कई घरों से पट्टे के लिए वसूली हो रही है। पचास हजार तो वसूल हो ही गए होंगे।" राम खेलावन अपनी जानकारी से उन लोगों के नाम गिनाता है, जिन्होंने रुपए दिए हैं।

"कुछ भी नहीं छोड़ेंगे नरेंद्र राय! सब हड़प लेंगे।" राम अवतार अपनी पीड़ा व्यक्त कर रहा है। राम खेलावन सहमति में सिर हिलाते हुए कहता है, "...और लोग हैं कि पट्टे के नाम पर रुपए लुटा रहे हैं, कर्ज लेकर दे रहे हैं। कोई यह नहीं सोचता कि बंजर जमीन अब है कहाँ? नरेंद्र राय कहाँ से पट्टा देंगे?" राम अवतार के माथे पर चिंता की लकीरें उभर आती हैं।

"परधान से लोग खफा तो हैं, परंतु कोई बोलता नहीं। सब मीठे बने रहना चाहते हैं। पिछड़ी जाति वाले तो सबसे ज्यादा उनके पिछलग्गू हैं। ठाकुरों की लात खाते हैं साले! पर अक्ल काम नहीं करती। बाबू साहब...बाबू साहब...किए रहते हैं। सब देख रहे हैं कि उत्तर टोले में सिर्फ़ भूमिहारों के दरवाज़ों पर हैंडपंप गड़े हैं। खड़ंजा उन्हीं के टोले में हुआ है। गरीब लोग अब भी कुएँ का पानी पी रहे हैं। फिर भी दिनेश के पक्ष में कितने हैं?" राम खेलावन बोलते-बोलते आवेश में आ गया है।

"चलो इस बार फिर देखते हैं। क्या पता, इस बार इनकी अक्ल खुल जाए!" राम अवतार, राम खेलावन को आश्वस्त करने की कोशिश करता है।

"वैसे तो कुर्मी, काछी, यादव, मुसलमान, सब राय के खिलाफ हैं।" राम खेलावन, राम अवतार के कान में फुसफुसाता है।

"राम खेलावन! हवा का रुख बदलना आता है नरेंद्र राय को। तुझे पता है, आजकल उन्होंने टी.वी. बरामदे में रखवा दिया है। कभी महाभारत, कभी रामायण का कैसेट चलता रहता है। पूरा गाँव अँधेरा होते ही पहुँच जाता है उनके बरामदे में। अभी से हवा का रुख बदलने की कोशिश हो रही है।" राम अवतार की बात सुनकर ख़ामोश रहता है राम खेलावन। राम अवतार की बात

जारी है, "दिनेश के पास पैसा कहाँ है ? अब चुनाव पैसा, गोश्त, पाउच और लाठी के बल पर जीता जाता है। विकास का खयाल किसे है ? तात्कालिक लाभ पर ही लोगों का ध्यान रहता है। बुनियादी बातों पर सोचता कौन है ?" राम खेलावन का चेहरा उतर जाता है। राम अवतार की बातों में दम है।

"लेकिन अभी से हमें माहौल बनाने में जुट जाना चाहिए। हताश होना ठीक नहीं। तुम जमील चाचा को लेकर मुसलमानों को समझाओ। मैं कुर्मियों, काछियों और यादवों के बीच माहौल बनाने की कोशिश करता हूँ।" राम अवतार, राम खेलावन को निराश नहीं करना चाहता, हौसला बनाए रखना चाहता है। इसलिए अभी से दिनेश को जिताने का समीकरण बना रहा है।

"घर-परिवार की चिंता है तुमको ?" लक्ष्मी आज झगड़ने के मूड में है, "दिनेश कोठी बनवाकर दे देंगे...राज करना!" दाहिने हाथ को हवा में नचाती हुई ताना मारती है लक्ष्मी।

"तुम मेरी बात समझती क्यों नहीं!" राम अवतार झुँझला जाता है। कुछ क्षण बाद संयमित होकर पत्नी को समझाने की कोशिश करता है, "देखो, राय हमें पट्टा नहीं देंगे। बात खाली जाएगी।"

"पहले से ही ऐसा क्यों सोच रहे हो ?"

"मैंने पिछले चुनाव में उनका विरोध किया था।"

"तो क्या हुआ ? एक गाँव में हैं तो नरम-गरम तो होगा ही। परधान जी ने बुरा नहीं माना है।"

"वे इतने भलमानस नहीं हैं।"

"तुम्हीं ऐंठे रहते हो। जाकर देखो तो! परधान जी खाली हाथ नहीं लौटाएँगे।" लक्ष्मी के पास राम अवतार के हर बात की काट है। राम अवतार बात बढ़ाना ठीक नहीं समझता, चुप हो जाता है।

लक्ष्मी रूठी हुई है। दो दिनों से मियाँ-बीवी में बोलचाल बंद है। महेश भी नाराज़ है, "बाबू जी बेकार में बड़े लोगों से रार मोल ले लेते हैं!" वह माई की बात का समर्थन करता है। उसकी बीवी ऐसे मामलों में हस्तक्षेप नहीं करती। बस चूल्हे-चौके तक सिमटी रहती है। महेश माई से पीड़ा व्यक्त करता है, "कौन ईमानदार है। दिनेश काका भी वही करेंगे। कोई दूध का धुला नहीं है। परधान जी ने हमारा का नुकसान किया है ? पुलिया बने चाहे न बने, खड़ंजा हो या न हो हमारे पास गाड़ी-घोड़ा तो है नहीं!" घर का वातावरण बोझिल है। राम अवतार बिना खाए, कुदाल लेकर खेतों की ओर निकल पड़ता है।

आज लक्ष्मी ने खाना नहीं खाया। बहू ने मनाने की कोशिश की तो लक्ष्मी बिफर पड़ी, "तुम लोगों की चिंता नहीं है इनको! गांधी बाबा बने रहेंगे! जवानी में कोई सुख नहीं मिला, अब बुढ़ापा भी..." झर-झर आँसू बरस पड़ते हैं। बहु चुपचाप देखती रही।

राम अवतार इधर-उधर घूमता रहता है। घर पर नहीं टिकता। कभी दिनेश के दरवाज़े पर, कभी राम खेलावन के। खेतों में अकेले जाता है। लक्ष्मी या बेटे जब खेत में आते हैं, तब भी बोलचाल नहीं होती। परिवार में चुप्पी पसरी रहती है।

"लाज-शरम भी नहीं है इनको! बहू-बेटे कहाँ रहेंगे ? मारे शरम के मुझे नींद नहीं आती!...मती मारी गई है। मौका हाथ से निकल गया तो जिंदगी भर रोएँगे!" धनेस-ब के आगे अपना दुखड़ा सुनाती है लक्ष्मी।

"बाबू जी! आप माई की बात मानते क्यों नहीं। रोज-रोज की किचकिच से तो मेरा मन ऊब गया है। माई गलत तो नहीं सोच रही है न।" फिर महेश बात का सिलसिला शुरू करता है।

"तो तुम भी यही चाहते हो कि मैं राय के दरवाजे पर जाकर हाथ फैलाऊँ ?"

"हाथ का फैलाना है। इस हाथ से रुपए देना है, उस हाथ से पट्टा लेना है। इ तो मोल-तोल है।"

"तुम का समझते हो, नरेंद्र राय हमें पट्टा देंगे।"

"आपको सबसे पहले देंगे। चुनाव करीब है। परधान जी की राह में आप ही एक खटका हैं। वे इस अवसर को हाथ से नहीं जाने देंगे।"

"लेकिन सबको पट्टा कहाँ देंगे? पाँच कट्ठे के लिए कइयों से रुपए वसूल चुके हैं।"

"बाबू जी! आपको आम खाने से मतलब है कि गुठली गिनने से!"

"लेकिन फिर वे चाहेंगे कि चुनाव में मैं उनका विरोध न करूँ।" राम अवतार भविष्य के संबंधों को लेकर आशंकित है।

"चुनाव की बात, चुनाव में देखी जाएगी। अभी सात महीने हैं। पट्टा तो एक माह में हो जाएगा। फिर आप चाहे उनके साथ रहिएगा, चाहे दिनेश काका के साथ।" बेटा, बाप की आशंकाओं का निराकरण करता है।

"पाँच हजार देना उचित है का?" राम अवतार के सवाल अभी ख़त्म नहीं हुए हैं।

"इस जमाने में उचित-अनुचित कौन देखता है? जिससे फायदा हो, वह करना चाहिए। जब और लोग नहीं सोच रहे हैं, तब आप क्यों परेशान हो रहे हैं?" महेश, बाबू जी को समझा रहा है। राम अवतार, बेटे की बातों को चुपचाप सुन रहा है जैसे वह निरा बुद्धू हो। आज वह परिवार में अलग-थलग पड़ गया है। बीवी, बेटे उसे बेवक़ूफ़ समझ रहे हैं। बस, बहू चुप है। महेश अपनी बात पूरी करता है, "परधान जी कह रहे थे, ऊपर देना पड़ता है, वरना वे एक पैसा न लेते। तुम्हारे बाबू जी जो उचित समझें, वह दे दें। काम हो जाएगा।"

"तुम परधान से कब मिले?" राम अवतार जानना चाहता है।

"परसों माई से भेंट हुई थी। पश्चिम के खेत में गन्ना बोआ रहे थे। माई ने उनके कान में बात डाल दी थी।"

राम अवतार ने महेश को ग़ौर से देखा। नरेंद्र राय की प्रतिक्रिया पर उसे आश्चर्य हुआ। गिरगिट की तरह रंग बदलता है राय। मन ही मन सोचता रहा राम अवतार।

कई दिनों से इसी उधेड़बुन में है राम अवतार। महेश की बात मस्तिष्क में धुंध की तरह छाई हुई है। मन बेचैन है। वह निर्णय लेने की स्थिति में नहीं है। उसने हमेशा की तरह अपने दोस्त राम खेलावन से जानना चाहा, "पट्टे जारी करने के कुछ कायदे-कानून तो होंगे ही?"

"जंगल राज है भाई। कायदे-कानून कौन देखता है।" राम खेलावन ने हमेशा की तरह व्यवस्था के ख़िलाफ़ आक्रोश व्यक्त किया।

"तुम तो जानते हो, मेरे घर में दो ही कमरे हैं। अब अमर की भी शादी करनी है।" इतना कहकर चुप हो जाता है राम अवतार। राम खेलावन के चेहरे पर अपनी चिंताओं की प्रासंगिकता टटोलता है वह। राम खेलावन के पास सुझाने को कोई राह नहीं है। फिर भी बेचैन राम अवतार, अपनी चिंताओं को झाड़-पोंछकर राम खेलावन के सामने रखता है, "बहुएँ कहाँ रहेंगी? अभी रहने को दिक्कत है। मुझे पट्टा मिल सकता है कि नहीं?" राम अवतार अपने सवालों के सहारे लक्ष्मी और महेश के सुझावों का वजन जानना चाहता है। इस क्रिया में उसके चेहरे की परत कुछ खिंच जाती है।

"मिल सकता है, दिनेश के परधान बनने पर। दिनेश परधान हो गया तो कोई न कोई जुगाड़ हो ही जाएगा।" राम खेलावन को एकमात्र यही हल दिखाई देता है।

"तब तक जमीन बचेगी कहाँ? पट्टे तो एक-दो माह में बँट जाएँगे।" राम अवतार आशंका ज़ाहिर करता है। राम खेलावन चुप रहता है, जवाब नहीं देता। राम अवतार की बातों का रहस्य ढूँढ़ता है।

चारपाई पर लेटे-लेटे सोच रहा है राम अवतार, "बेटा ठीक ही कह रहा है। चुनाव अपनी जगह

है, हक अपनी जगह। नरेंद्र राय सबके परधान हैं। उसके भी। पट्टा लेने का अधिकार उसे भी है। इसमें अहसान किसका? पट्टे के लिए वोट देने की शर्त तो है नहीं। गाँव में पक्ष-विपक्ष दोनों की सुनी जानी चाहिए। पट्टे का काम तो एक-दो माह में निबट जाएगा। फिर वह नरेंद्र राय के खिलाफ लड़ाई जारी रखेगा। एक-दो माह तक मुँह बंद रखने में बुराई क्या है? वैसे भी दुश्मन को मीठा बोलकर पछाड़ना ठीक रहता है। बीवी-बच्चों को नाराज करना ठीक नहीं।'' विचारों के उधेड़बुन के बीच तर्कों से स्वयं को संतुष्ट करना चाहता है राम अवतार। फिर उसके दिमाग़ में सवाल उठता है, ''लेकिन पट्टे के लिए रुपए क्यों? वह गरीब है, पिछड़ी जाति का है। पट्टे के लिए वह पात्र है।'' जवाब की तलाश में आसमान को निहारने लगता है राम अवतार। एकाएक बीवी-बच्चों की बात मस्तिष्क में तैर जाती है—'ऊपर देना पड़ता है।' प्रधान के इस जुमले की असलियत जानते हुए भी, वह स्वयं को संतुष्ट कर लेता है।

रात के दस बजे थे और हमेशा की तरह गाँव दम साधे पड़ा था। भविष्य का ख़ौफ़ अंधकार का साथ निभा रहा था। लक्ष्मी, चुपके से प्रधान के घर हो आई थी। उसकी आहट से शेरू भौंका ज़रूर था, परंतु नरेंद्र राय ने बरामदे में आकर चुप करा दिया था।

जमावड़ा हट चुका था। कारिंदे जा चुके थे। मौक़ा पाकर वह प्रधान से बोल आई थी, ''महेश के बाबू जी मिलना चाहते हैं परधान जी! किरपा कीजिएगा। वह बुरे नहीं हैं, झक्की जरूर हैं। आगा-पीछा नहीं सोचते। कुछ लोगों के बहकावे में आ जाते हैं। काम निकालकर लोग दूध की मक्खी की तरह निकाल फेकेंगे।'' लक्ष्मी का इशारा दिनेश की ओर था। उसकी बात सुनकर नरेंद्र राय को सुकून मिला था। उसके चेहरे की चमक कुछ बढ़ गई थी जो लालटेन की रोशनी में भी निहारी जा सकती थी।

लक्ष्मी ने आकर मरद को इशारा किया, ''कोई नहीं है। लोग सो चुके हैं। जल्दी हो आओ। अपनी मजबूरी बता देना। बिजली आने से पहले लौट आओगे।''

राम अवतार झोंपड़ी ने निकलकर अँधेरे में खो गया। रुपयों की गड्डी, कुर्ते की जेब में सँभालकर रख ली थी। जितनी तेज़ी से वह नरेंद्र राय के घर की ओर गया था, उतनी ही तेज़ी से लौट भी आया था। ज़्यादा समय नहीं लगाया। नरेंद्र राय को जल्दी नहीं थी, पर उसे थी। कोई देख लेगा तो क्या सोचेगा। यही न कि, वक़्त पर सब बदल जाते हैं, राम अवतार भी बदल गया। बात फैल जाएगी। दिनेश क्या सोचेगा?

हाँ, लौटते समय नरेंद्र राय के प्रति उसका मन हल्का ज़रूर था। पहले जैसी कड़वाहट नहीं थी। कोई बुरा बरताव नहीं किया था प्रधान जी ने। प्रेम से मिले थे। रुपए रख लिए थे। दोस्ती के लिए हाथ भी बढ़ाया था। ''मिलते रहना।'' चलते समय कहा भी था।

उस रात लक्ष्मी को चैन की नींद आई थी।

चुनाव क़रीब आ चुका है। परंतु अभी तक पट्टे जारी नहीं किए गए हैं। लोग-बाग परेशान हैं। करें तो क्या करें। रुपए तो वापस मिलने से रहे। बस पट्टा मिल जाए, इस उम्मीद में सब बैठे हैं। राम अवतार अजीब मनोदशा में जी रहा है। न वह नरेंद्र राय के ख़िलाफ़ बोल पा रहा है और न दिनेश के पक्ष में। क्या करे? रुपए फँसे हैं। अगले महीने आचार संहिता लागू हो जाएगी, नामांकन शुरू हो जाएँगे। तब पट्टे जारी नहीं किए जा सकते। ''हे भगवान! पाँच हजार डूब तो नहीं जाएँगे?'' यह सोचकर उदास हो जाता है राम अवतार। वक़्त कम है। दिनेश के लिए माहौल भी बनाना है। आजकल उसे ठीक से

नींद नहीं आती है। चिंता बढ़ गई है। उधर राय के चेले-चाटे ग़दर काट रहे हैं।

लक्ष्मी भी चुप-चुप रहने लगी है। राम अवतार से कोई नाराज़गी नहीं है, बस अपराधबोध से ग्रसित है वह। पाँच हज़ार कम नहीं होते। एक-एक पैसा पसीने की कमाई है। झुलनी को बेचते समय उसे लगा था, जैसे पति की पीठ पर, फिर पल्लेदारी के ज़ख़्म उभर आए हों और वह उसे सहलाने के बजाय खरोंच रही हो। इसके बावजूद महेश बाबू से चौवनिया सूद पर दो हज़ार का क़र्ज़ तो लेना ही पड़ा था।

कल लक्ष्मी को बंसवारी में चंपा की माई, धनेस-ब और चानमती मिली थीं।

''परधान जी को इस बार भी जिताना होगा। वह जीतेंगे, तभी हम लोगों का भला होगा।'' चंपा की माई ने सुझाया था।

''परधान जी हारेंगे कैसे? मस्जिद के लिए जमीन दे रहे हैं। मुसलमान लोग परधान जी की ओर हैं। जमील चाचा ने भी पाला बदल लिया है।'' चानमती बताती है।

''राम खेलावन के भतीजे ने भी पट्टे के लिए रुपए दिए हैं। अब वह भी परधान जी के दरबार में आता-जाता है। उनके चेले-चाटों के साथ उठना-बैठना है उसका। खानदान में ही फूट पड़ गई है।'' धनेस-ब धीरे से फुसफुसाती है।

''छोटे लोगों के बस में परधानी नहीं है दीदी। परधानी जिम्मेदारी का काम है। परधान जी के जीतने में ही हम सबकी भलाई है।'' लक्ष्मी तीनों की बातों का समर्थन करती है।

पट्टे के लिए कुल बीस लोगों ने रुपए दिए हैं। अब राम अवतार के अलावा सब के सब, चाहे-अनचाहे नरेंद्र राय के प्रधान बने रहने की दुआ कर रहे हैं। कुछ खुलेआम तो ज़्यादातर चुपके-चुपके। रुपयों के बारे में कोई नहीं बोलता। बोलें भी तो कैसे? सबने चोरी-छिपे रुपए दिए हैं। वैसे तो आशंकित सब हैं, परंतु कोई कहीं शिकायत नहीं करता।

नरेंद्र राय ने सबको समझा दिया है, ''परेशान होने की ज़रूरत नहीं। पट्टे कहाँ भागे जा रहे हैं। मिलेंगे ही। चुनाव के बाद सबसे पहले पट्टे ही जारी किए जाएँगे। जल्दबाज़ी का काम शैतान का। जल्दबाज़ी में कहीं लेखपाल-पटवारी ने ख़ुराफ़ात कर दी तो बाद में परेशानी बढ़ जाएगी।'' आशंकित लोग आश्वस्त जान पड़ रहे हैं। नरेंद्र राय मन ही मन ख़ुश है। सबकुछ उनके मन-माफ़िक़ हो रहा है। चुनाव-प्रचार शुरू हो गया है और हर रात चेले-चाटे, पाउच और लिट्टी-गोश्त का आनंद ले रहे हैं।

कई दिनों से नरेंद्र राय की बातों का रहस्य ढूँढ़ रहा है राम अवतार।

आज इतवार है और लोग-बाग बाज़ार के लिए निकल रहे हैं। उसे बाज़ार नहीं जाना है। वह बंसवारी में लेटा हुआ है। दिनेश और राम खेलावन ने बुलवाया तो बहाना बना दिया, ''तबीअत ठीक नहीं है!''

चारपाई पर लेटे-लेटे सोच रहा है राम अवतार, ''लक्ष्मी को मारने-पीटने से क्या होगा? आचार संहिता लागू हो गई है। अब जो भी होगा, चुनाव के बाद ही होगा।''

इसी उधेड़बुन में न जाने कब उसे नींद आ गई। परंतु बंसवारी में बैठे कौवे सजग हैं। उनकी काँव-काँव यह आभास दिला रही है कि यह सोने का वक़्त नहीं है। तभी एक ख़ौफ़नाक स्वप्न उसकी नींद भंग कर देता है। वह उठ बैठा। धड़कनें तेज़ हो गईं। माथे पर पसीना छलक आया। गला सूख गया। वह इधर-उधर निहारता है। ''ओफ! कितना खौफनाक स्वप्न था।...नहीं... नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! नरेंद्र राय नहीं हार सकते! इस बार तो नहीं। इस बार उन्हें जीतना ही चाहिए। शायद अगली बार यह सीट पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षित हो। फिर तो दिनेश की ही बारी होगी। पाँच साल गुजरते देर ही कितनी लगती है!'' उखड़ती साँसों को रोकने का प्रयास कर रहा है राम अवतार।

नंद कुमार गौतम

पहली बरखा

एक हैं चिंता फुआ। केशवपुर गाँव का बच्चा-बच्चा तक जानता है, चिंता फुआ से सहयोग लिए बग़ैर गाँव में किसी के घर क़ा काम सिद्ध नहीं हो सकता। चाहे शादी-ब्याह का उत्सव हो या फिर मरना-जीना। सभी काम में चिंता फुआ की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है। मेहमानों को खिलाने के लिए पुए-पकवान तैयार करने हों तो चिंता फुआ को बुलाओ। गाँव में बयना-पेहानी बाँटनी हो तो चिंता फुआ को बुलाओ। गीत गाना हो तो भी और नेगिन-पवनियाँ को मज़दूरी देनी हो तो भी। हरेक काम में चिंता फुआ आगे रहतीं, जैसे अपने ही घर का काम हो। पड़ोसी अखिलेश चाचा की बेटी की शादी में तो स्पेशल जीप भेजकर ससुराल से बुलाई गई थीं चिंता फुआ।

साँवला-सलोना रंग-रूप, टूँसा जैसी नाक और झील-सी गहरी आँखें। साधारण क़द-काठी। उम्र पचास-बावन के आसपास! यही पहचान है उसकी। काम-धंधे में मरदों के नाक-कान काटती हैं। गाँव में पर्व-त्योहारों की चमक तो उसके बचपन से उसके नाम के साथ जुड़ी हुई है।

लेकिन उस साल की बात कुछ दूसरी क़िस्म की थी। बिलकुल अलग क़िस्म की। बात नहीं समस्या थी यह। जेठ का महीना निकल गया, बारिश नहीं हुई थी। तो यह कोई ख़ास चिंता वाली बात नहीं थी। परंतु जैसे ही आषाढ़ मास आधा बीता और आकाश से पानी की बूँदें धरती पर नहीं टपकीं तो गाँव के किसानों ने माथा ठोकना शुरू किया। अब क्या होगा! पिछले साल ख़रीफ़ की सारी फ़सलें बाढ़ बहा ले गई थी अपने साथ। इस साल अगर अकाल पड़ गया तो !...तो घर-घर में बैंड-बाजा बज जाएगा। पशु-पक्षियों के साथ आदमी भी तड़पेंगे दाना-पानी के बिना।

हालाँकि संभावित अकाल से छुटकारा पाने के लिए गाँव के किसान अपनी ओर से हर संभव उपाय में जुटे थे। गाँव के सभी देवी-देवता समेत ईंट-पत्थर तक पूजे गए थे। इसके अलावा जागरण, अखंड हरि कीर्तन, बकरे की बलि अलग से। फिर भी भगवान इंद्र का कलेजा नहीं पसीज रहा था। बारिश होने की बात तो दूर आकाश में बादलों का साया तक नज़र नहीं आ रहा था दूर-दूर तक कहीं।

नंद कुमार गौतम का जन्म 1962 में हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में लेख व कहानियाँ प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : असपुरा, बिक्रम, पटना-801104
मो. 9431488664

ऐसे ही दिनों में चिंता फुआ ने एक रात सपना देखा था। भयानक सपना! गाँव के नदी-नाले, आहर-पोखर सब-के-सब सूखे थे। सूरज आग का गोला बरसा रहा था धरती पर। गोरू-डाँगर भूख से तड़प-तड़पकर मर रहे थे लोगों के दरवाज़ों पर। जब लोगों को अपने दरवाज़े पर भूख से तड़पते जानवरों को नहीं देखा जाता तो वे उसे खोलकर 'अनेरिया' बेला देते। जाओ जहाँ जाकर मरना हो मरो। अनबोलता धन खूँटे पर बँधा मर गया तो महापाप! फिर उस महापाप से मुक्ति पाने के लिए सौ तरह के नियम-धरम।

सो अगली सुबह उठते ही चिंता फुआ टोले में घर-घर न्यौता दे आई थीं, "आज रात सबको जुटना है, बिनेसर भईया के घर के पिछवाड़े, पीपल के पेड़ के नीचे।" चऊहट गाई जाएगी। चऊहट मतलब बारिश होने के लिए गाँव में गाया जानेवाला बहु प्रचलित लोकगीत। फिर देखना, कैसे नहीं छँटते हैं गाँव के ऊपर मँडराते अकाल के काले बादल। कैसे नहीं पसीजता है भगवान इंद्र का कलेजा।

गाँव के बीचों-बीच बिनेसर भईया के पिछवाड़े वर्षों से खड़ा पुराना पीपल का पेड़ गाँव में घटी अनेक घटनाओं का मूक गवाह है। गर्मी के दिनों में पीपल के पेड़ के नीचे की ठंडक गाँव की बहू-बेटियों के लिए ए.सी., कूलर की हवा बन जाती है। घर के काम-धंधे से मुक्ति मिलने के बाद दोपहर में शीतल हवा पाने के लिए झुंड-की-झुंड महिलाएँ आ बैठती हैं पीपल के पेड़ के नीचे। कहीं घूँघट काढ़े बहुरिया तो कहीं ओढ़नी सँभालती बालाएँ। गाँव में आकर भालू-बंदर के नाच दिखानेवालों, बाइस्कोप दिखानेवालों का जमघट भी लगता है इसी पीपल के पेड़ के नीचे। गाँव की महिलाओं के लिए पूजनीय है यह पीपल। पेड़ की जड़ के ऊपर उसके तने में लिपटे सूत के अनेक कच्चे धागे इस बात के गवाह हैं।

और आज रात इसी पीपल के पेड़ के नीचे...

और सचमुच, रात को दस बजते-बजते बिनेसर भईया का पिछवाड़ा गुलज़ार हो उठा। पायलों की छम-छम, झाँझरों की झन-झन और हँसी-ठिठोली के बीच झाल-ढोलक की थाप भी। चारों ओर मदहोश कर देने वाली फ़िज़ा। घर में अपने मर्दों को खिला-पिलाकर लगभग हरेक घर की महिलाएँ यहाँ आ जुटी हैं। चाँदनी रात। पीपल के पत्तों की ओट से झाँककर जैसे चाँद भी रात की इस महफ़िल में शामिल होने के लिए व्याकुल है।

"सब लोग आ जुटे भाई?" चिंता फुआ बोल उठीं।

"जिनको आना था, वो आ गईं और जिन्हें आने का होगा, वो भी आ जाएँगी।" भीड़ के बीच से बसंती दी ने जवाब दिया।

"तो अब सावधान हो जाइए आप लोग!" चिंता फुआ ने रेफरी की भूमिका सँभाल ली। एक तरफ़ गाँव की बेटियाँ तो दूसरी तरफ़ बहुएँ। चिंता फुआ ने दोनों दलों का चुनाव किया था। लड़कियों के दल की मुखिया बनी बसंती दी और बहुओं के दल की विनोद बहू। दोनों टीमों में पंद्रह-पंद्रह महिलाएँ शामिल की गईं। जो बच गईं वो दर्शकों की भूमिका निभाएँगी। सबकी साँसें जैसे रुक-सी गई थी।

दोनों टीमें दो भागों में विभक्त हो गईं और बीच में एक स्थान पर खड़ी थीं चिंता फुआ। दर्शक दीर्घा में शोर-गुल होते ही चिंता फुआ ने क्लास लेनी शुरू की, "हल्ला-गुल्ला बंद कीजिए भाई, गाने के लिए सबको मौक़ा मिलेगा, बारी-बारी से।"

फिर न तो सीटी बजी, न एक-दो-तीन हुआ।

चिंता फुआ के इशारे पर कार्यक्रम प्रारंभ हो गया। बहुओं की टोली में शामिल महिलाएँ गीत गाती आगे बढ़ीं :

कहवां में गरजै मयघर रे हथिया,
कहवां बरसै इंद्रदेवा हे ना।

नंद कुमार गौतम

पहली बरखा

एक हैं चिंता फुआ। केशवपुर गाँव का बच्चा-बच्चा तक जानता है, चिंता फुआ से सहयोग लिए बग़ैर गाँव में किसी के घर क़ा काम सिद्ध नहीं हो सकता। चाहे शादी-ब्याह का उत्सव हो या फिर मरना-जीना। सभी काम में चिंता फुआ की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है। मेहमानों को खिलाने के लिए पुए-पकवान तैयार करने हों तो चिंता फुआ को बुलाओ। गाँव में बयना-पेहानी बाँटनी हो तो चिंता फुआ को बुलाओ। गीत गाना हो तो भी और नेगिन-पवनियाँ को मज़दूरी देनी हो तो भी। हरेक काम में चिंता फुआ आगे रहतीं, जैसे अपने ही घर का काम हो। पड़ोसी अखिलेश चाचा की बेटी की शादी में तो स्पेशल जीप भेजकर ससुराल से बुलाई गई थीं चिंता फुआ।

साँवला-सलोना रंग-रूप, टूँसा जैसी नाक और झील-सी गहरी आँखें। साधारण क़द-काठी। उम्र पचास-बावन के आसपास! यही पहचान है उसकी। काम-धंधे में मरदों के नाक-कान काटती हैं। गाँव में पर्व-त्योहारों की चमक तो उसके बचपन से उसके नाम के साथ जुड़ी हुई है।

लेकिन उस साल की बात कुछ दूसरी क़िस्म की थी। बिलकुल अलग क़िस्म की। बात नहीं समस्या थी यह। जेठ का महीना निकल गया, बारिश नहीं हुई थी। तो यह कोई ख़ास चिंता वाली बात नहीं थी। परंतु जैसे ही आषाढ़ मास आधा बीता और आकाश से पानी की बूँदें धरती पर नहीं टपकीं तो गाँव के किसानों ने माथा ठोकना शुरू किया। अब क्या होगा! पिछले साल ख़रीफ़ की सारी फ़सलें बाढ़ बहा ले गई थी अपने साथ। इस साल अगर अकाल पड़ गया तो!...तो घर-घर में बैंड-बाजा बज जाएगा। पशु-पक्षियों के साथ आदमी भी तड़पेंगे दाना-पानी के बिना।

हालाँकि संभावित अकाल से छुटकारा पाने के लिए गाँव के किसान अपनी ओर से हर संभव उपाय में जुटे थे। गाँव के सभी देवी-देवता समेत ईंट-पत्थर तक पूजे गए थे। इसके अलावा जागरण, अखंड हरि कीर्तन, बकरे की बलि अलग से। फिर भी भगवान इंद्र का कलेजा नहीं पसीज रहा था। बारिश होने की बात तो दूर आकाश में बादलों का साया तक नज़र नहीं आ रहा था दूर-दूर तक कहीं।

नंद कुमार गौतम का जन्म 1962 में हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में लेख व कहानियाँ प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : असपुरा, बिक्रम, पटना-801104
मो. 9431488664

ऐसे ही दिनों में चिंता फुआ ने एक रात सपना देखा था। भयानक सपना! गाँव के नदी-नाले, आहर-पोखर सब-के-सब सूखे थे। सूरज आग का गोला बरसा रहा था धरती पर। गोरू-डाँगर भूख से तड़प-तड़पकर मर रहे थे लोगों के दरवाज़ों पर। जब लोगों को अपने दरवाज़े पर भूख से तड़पते जानवरों को नहीं देखा जाता तो वे उसे खोलकर 'अनेरिया' बेला देते। जाओ जहाँ जाकर मरना हो मरो। अनबोलता धन खूँटे पर बँधा मर गया तो महापाप! फिर उस महापाप से मुक्ति पाने के लिए सौ तरह के नियम-धरम।

सो अगली सुबह उठते ही चिंता फुआ टोले में घर-घर न्यौता दे आई थीं, "आज रात सबको जुटना है, बिनेसर भईया के घर के पिछवाड़े, पीपल के पेड़ के नीचे।" चऊहट गाई जाएगी। चऊहट मतलब बारिश होने के लिए गाँव में गाया जानेवाला बहु प्रचलित लोकगीत। फिर देखना, कैसे नहीं छँटते हैं गाँव के ऊपर मँडराते अकाल के काले बादल। कैसे नहीं पसीजता है भगवान इंद्र का कलेजा।

गाँव के बीचों-बीच बिनेसर भईया के पिछवाड़े वर्षों से खड़ा पुराना पीपल का पेड़ गाँव में घटी अनेक घटनाओं का मूक गवाह है। गर्मी के दिनों में पीपल के पेड़ के नीचे की ठंडक गाँव की बहू-बेटियों के लिए ए.सी., कूलर की हवा बन जाती है। घर के काम-धंधे से मुक्ति मिलने के बाद दोपहर में शीतल हवा पाने के लिए झुंड-की-झुंड महिलाएँ आ बैठती हैं पीपल के पेड़ के नीचे। कहीं घूँघट काढ़े बहुरिया तो कहीं ओढ़नी सँभालती बालाएँ। गाँव में आकर भालू-बंदर के नाच दिखानेवालों, बाइस्कोप दिखानेवालों का जमघट भी लगता है इसी पीपल के पेड़ के नीचे। गाँव की महिलाओं के लिए पूजनीय है यह पीपल। पेड़ की जड़ के ऊपर उसके तने में लिपटे सूत के अनेक कच्चे धागे इस बात के गवाह हैं।

और आज रात इसी पीपल के पेड़ के नीचे...

और सचमुच, रात को दस बजते-बजते बिनेसर भईया का पिछवाड़ा गुलज़ार हो उठा। पायलों की छम-छम, झाँझरों की झन-झन और हँसी-ठिठोली के बीच झाल-ढोलक की थाप भी। चारों ओर मदहोश कर देने वाली फ़िज़ा। घर में अपने मर्दों को खिला-पिलाकर लगभग हरेक घर की महिलाएँ यहाँ आ जुटी हैं। चाँदनी रात। पीपल के पत्तों की ओट से झाँककर जैसे चाँद भी रात की इस महफ़िल में शामिल होने के लिए व्याकुल है।

"सब लोग आ जुटे भाई?" चिंता फुआ बोल उठीं।

"जिनको आना था, वो आ गईं और जिन्हें आने का होगा, वो भी आ जाएँगी।" भीड़ के बीच से बसंती दी ने जवाब दिया।

"तो अब सावधान हो जाइए आप लोग!" चिंता फुआ ने रेफरी की भूमिका सँभाल ली। एक तरफ़ गाँव की बेटियाँ तो दूसरी तरफ़ बहुएँ। चिंता फुआ ने दोनों दलों का चुनाव किया था। लड़कियों के दल की मुखिया बनी बसंती दी और बहुओं के दल की विनोद बहू। दोनों टीमों में पंद्रह-पंद्रह महिलाएँ शामिल की गईं। जो बच गईं वो दर्शकों की भूमिका निभाएँगी। सबकी साँसें जैसे रुक-सी गई थी।

दोनों टीमें दो भागों में विभक्त हो गईं और बीच में एक स्थान पर खड़ी थीं चिंता फुआ। दर्शक दीर्घा में शोर-गुल होते ही चिंता फुआ ने क्लास लेनी शुरू की, "हल्ला-गुल्ला बंद कीजिए भाई, गाने के लिए सबको मौक़ा मिलेगा, बारी-बारी से।"

फिर न तो सीटी बजी, न एक-दो-तीन हुआ। चिंता फुआ के इशारे पर कार्यक्रम प्रारंभ हो गया। बहुओं की टोली में शामिल महिलाएँ गीत गाती आगे बढ़ीं :

कहवां में गरजै मयघर रे हथिया,
कहवां बरसै इंद्रदेवा हे ना।

गीत गाती हुई महिलाओं की टोली जब चिंता फुआ के निकट पहुँचकर लौटने लगी तो जवाब में लड़कियों की टोली गीत गाती हुई आगे की ओर बढ़ी :

अगे माई पटना में गरजै मयघर हथिया,
केशवपुर बरसै इंद्रदेवा हे ना।

गीत का अर्थ यह कि आकाश में काले-मतवाले बादल मदमस्त हाथियों की तरह इधर-उधर उमड़-घुमड़ रहे हैं। गीत के माध्यम से महिलाएँ आकाश में उमड़-घुमड़ रहे बादलों से बरसने का निवेदन करती हैं।

फिर ?...थोड़ी देर बाद महिलाओं की विनती को सुन सचमुच में भगवान इंद्र का कलेजा जैसे पसीज उठता है और दूर कहीं उमड़ते-घुमड़ते बादल केशवपुर गाँव के ऊपर पहुँचकर बरसने लगते हैं।

अब गीत का लय-ताल सब बदल जाता है। पानी को बरसते देख महिलाएँ फूली नहीं समा रहीं। बारिश भी ऐसी तेज़ की खेतों की मेड़ तोड़कर पानी बहने लगा है। किसान अत्यधिक बारिश से टूटे अपने खेतों की मेड़ों को दुरुस्त करने आ जुटे हैं।

ऐसे वक़्त में एक बार फिर गीत के कथ्य, ताल, लय सब बदल गए :

गाँव के मलिकवा अनजानू हथी एहो रामा,
घूमी-घूमी, बाँधेलन मोरनियां एहो रामा।

गीत गवनई का यह कार्यक्रम रात के तीसरे पहर तक चलता रहा। कभी पूरबी तो कभी कजरी, कभी झूमर तो कभी कहरवा...

कार्यक्रम की समाप्ति के बाद अधिकांश महिलाएँ अपने घर चली गईं। जबकि कुछ पीपल के पेड़ के नीचे बैठकर सुस्ताने लगीं। तभी घर जाने के क्रम में बीच रास्ते से लौट आई मीना दी। फिर पीपल के पेड़ के नीचे बैठकर आराम फ़रमा रही महिलाओं को एक महत्त्वपूर्ण सूचना देकर चौंका दिया, "विलास चाचा अकेले दालान के बाहर सोए हुए हैं।"

"आँय!..." एक साथ कई महिलाओं की आवाज़ें आपस में टकराईं।

फिर एक नए खेल की शुरुआत हुई।

सावित्री अपने गोशाले से गोबर उठा लाई और गायत्री पानी भरी हाँड़ी। मालती ने हाँड़ी में गोबर मिट्टी सानकर उसका घोल तैयार किया। फिर सब-के-सब विलास चाचा के दालान की ओर बढ़ चलीं।

सबसे आगे हाथ में हाँड़ी थामे चल रही थीं चिंता फुआ। क़दमों को सहम-सहमकर ज़मीन पर रखते हुए। उसके पीछे सावित्री, मालती और गायत्री। उन तीनों के पीछे कुछ अन्य महिलाएँ भी थीं, जो सिर्फ़ तमाशा भर देखने के लिए साथ थीं।

विलास चाचा के दालान के समीप पहुँचकर चिंता फुआ एकदम से चौकस हो गईं। आसपास इधर-उधर देखा। विलास चाचा बेफ़िक्र सोए हुए थे। उनके मुँह से खर्राटे भरने की आवाज़ निकल रही थी। अंजोरिया रात। आसपास कुछ भी नहीं था—सिर्फ़ सन्नाटे के सिवा। सावित्री, मालती और गायत्री इधर गली में खड़ी थीं। अन्य महिलाएँ बग़ल के एक कोले में जा छुपी थीं।

चिंता फुआ दबे पाँव विलास चाचा की खटिया के निकट जा पहुँचीं। कुछ पल रुकने के बाद बिजली की गति से चिंता फुआ के दोनों हाथ हाँड़ी समेत ऊपर की ओर उठे। फिर गुच्च... गुच्च...गुच्च की आवाज़ें। इसके साथ ही हवा में एक कर्कश आवाज़ गूँजी, "कऊन हऽ...रे!"

इधर सिर पर पाँव रखकर भागीं चिंता फुआ, गायत्री, मालती, सावित्री व अन्य महिलाएँ।

एक झोंक में खटिया पर उठकर बैठ गए विलास चाचा और यह क्या! मन रोने-चिल्लाने को हो आया। चादर, बिछावन, धोती, गंजी सब गोबर-मिट्टी के घोल से भर गया। विलास चाचा

का धैर्य टूट गया। वे गुस्से में फनफनाते हुए चुनिंदा भजन पढ़ने लगे, "कऊन छिनाल के भतार मर गया रे! हम जैसे बुढ़वा संग धुरखेली खेलने के लिए..."

विलास चाचा के भजन को सुन घर के अंदर सरोजनी की नींद टूट गई। उसने जाकर अपनी माँ को जगाया। फिर दोनों किवाड़ खोलकर दालान पर पहुँचीं तो वहाँ का दृश्य देखकर भक्क रह गईं। सरोजनी तो चुप रही, परंतु उसकी माँ विलास चाचा के साथ मिलकर राग-में-राग अलापने लगी।

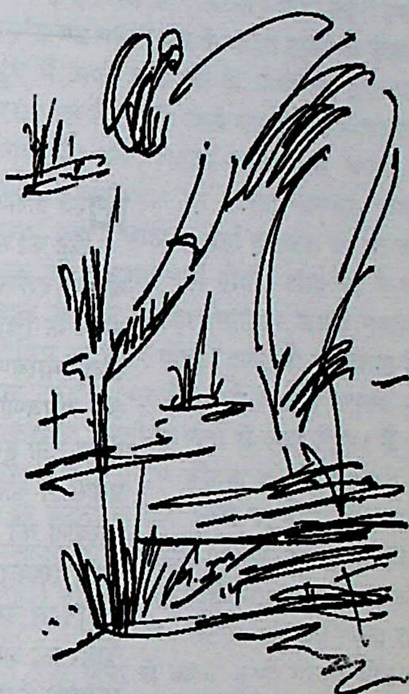
विलास चाचा के दालान पर हो रही गालियों की बौछार की आवाज़ सुनकर पड़ोस के लोगों की नींद टूट गई। परंतु अपने घर से बाहर कोई नहीं निकला। सरोजनी को अपने आप पर ग़ुस्सा आया, "न्योता मिलने के बाद भी वह क्यों नहीं गई थी चऊहट गाने?" शायद इसी का नतीजा है यह।

विलास चाचा को नहला-धुलाकर, कपड़े, बिछावन बदलवाकर माँ-बेटी घर के अंदर सोने चली गईं। अभी रात क़रीब दो घड़ी बाक़ी रह गई थी।

और इसे महज़ एक संयोग ही कहा जा सकता है।

सुबह विलास चाचा की आँखें खुली तो अचरज में पड़ गए थे वे। उन्हें अपनी ही आँखों पर विश्वास नहीं हो पा रहा था। वे दालान के ओसारे से निकलकर आँगन में चले आए। नज़रें उठाकर आसमान की ओर देखा—आकाश में भूरे-काले रंग के बादल उमड़-घुमड़ रहे थे। अक्षयबर के घर के महाबीरी झंडे को पूरब दिशा की ओर उन्होंने लहराते हुए देखा। फिर अपने अनुमान को पक्का किया। हवा भी पछुवा बह रही है। ऐसे में तो ख़ूब बारिश होती है। घनघोर बारिश!

विलास चाचा आँगन से निकलकर अब घर के अंदर पहुँच गए थे। ओसारे में सरोजनी की माँ सूप से धान फटक रही थी।



"सुबह आकाश की रंगत देखकर समझ गई थी कि आज बारिश होनेवाली है।" सरोजनी की माँ बोली।

"किस धान का बिया (बीज) है?"

"सुपर मंसूरी।" सरोजनी की माँ ने जवाब दिया।

विलास चाचा पुनः दालान पर लौट आए। अब तक बूँदा-बाँदी शुरू हो गई थी। उन्होंने दालान पर कोने में रखी लाठी व कुदाल उठाया। फिर कुदाल को कंधे पर लिया। तेज़ क़दमों से बघार की ओर चल पड़े। बारिश की रफ़्तार धीरे-धीरे तेज़ होती जा रही थी। रास्तें में गाँव के अन्य किसान भी उन्हें बघार की ओर जाते मिले।

विलास चाचा के दिलो-दिमाग़ से रातवाली घटना अब पूरी तरह से ग़ायब हो चुकी थी। सहसा उन्हें याद हो आया, इस मौसम में बरसने वाली पहली बरखा थी यह!...

मंगत बादल

यह कहानी नहीं

विश्व प्रसिद्ध! बेजोड़! उस्ता चित्रकला! मैं आर्ट गैलरी में खड़ी ऊँट की खाल पर सोने के पानी और रंगों से बने चित्र देख रही थी जो दर्शक को बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। राधा और कृष्ण के चित्र, रास-लीला के चित्र, बणी-ठणी, महेंद्र, मूमल, ढोला-मारवणी के चित्र! ऊँट की खाल पर ऊँट के ही चित्र। ढोला और मारवणी के चित्र में ऊँट की तनी हुई गरदन, उसका आगे वाला उठा हुआ पैर, मोहरी (नकेल) के इशारे से उसे मोड़ने के प्रयास में ढोला का उठा हुआ हाथ तथा साथ ही कनखियों से मारवणी की ओर देखना, मारवणी की झुकी नज़रें, मंद मुस्कान आदि देखकर ऐसा लग रहा था जैसे अभी इस चित्र में से निकलकर ज़मीन पर उतर आएगा फिर पूँगल के धोरों को पीछे छोड़ता हुआ नरवर की ओर बढ़ जाएगा। तसवीर में ऊँट, उस पर सवार ढोला, मारवणी जैसे प्रेम को एक नया अर्थ दे रहे थे! मैं इस चित्र को देखते-देखते खो जाती हूँ अपने अतीत में! वहाँ ढोला मारवणी तो नहीं पर कुछ सवाल हैं जो ऊँट की तरह 'गल्ला' (जीभ को मुँह से बाहर निकालकर उसे फुलाकर बलंबलाना) निकालकर बलबला रहे हैं। मदांध होकर 'मांकड़े' (मदांध ऊँट पिछली टाँगें चौड़ी कर अपनी पूँछ ज़ोर-ज़ोर से टाँगों के बीच मारता है।) मार रहे हैं। जीवन के इतने वर्ष बिता देने के बाद भी मेरे पास इन सवालों के जवाब नहीं हैं। हालाँकि ऐसे प्रश्न सभी के जीवन में आते होंगे लेकिन हो सकता है कोई इन्हें दरकिनार कर दे या ऐसे वाहियात विषयों के बारे में सोचने की ज़रूरत ही न समझे। आज मैं एक कुशल सर्जन हूँ। सैंकड़ों ऑपरेशन अपने इन्हीं हाथों से कर चुकी हूँ। किसी को जीवन देने के भरसक प्रयास में कई बार असफल भी रही हूँ। यह सब पेशे से जुड़ा है लेकिन यदि मुझे जान-बूझकर किसी की जान लेनी पड़े या किसी असाध्य रोगी के प्राण लेने में ही उसका भला हो और उसे मारने के लिए कहा जाए तो मैं ऐसा नहीं कर सकूँगी। हज़ारों व्यक्तियों को मैंने मौत से संघर्ष करते देखा है। कुछ ऐसे रोगियों की अनुनय प्रार्थनाएँ भी सुनी हैं जो शारीरिक कष्ट से दुखी होकर मर जाना चाहते हैं किंतु मैं तो ऐसा कभी सोच भी नहीं सकती क्योंकि जीवन देने वाला तो ईश्वर है। जब हम जीवन देने में सक्षम नहीं हैं तो मृत्यु कैसे दे सकते हैं?

राजस्थानी एवं हिंदी के रचनाकार मंगत बादल की कविता-संग्रह, व्यंग्य, यात्रा-वृत्त की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। राजस्थान साहित्य अकादमी से सम्मानित हैं। संपर्क : शास्त्री कॉलोनी, रायसिंह नगर-335051 (राज.)

मैंने शुरू में अपने प्रश्नों की उपमा ऊँट से दी है। आप सोच भी रहे होंगे कि साहित्य में क्या उपमाओं का अकाल पड़ गया है अथवा ऐसे हठी किंतु मार्मिक प्रश्नों के लिए ऊँट से अच्छी उपमा दूसरी हो ही नहीं सकती! हो सकती होगी लेकिन मेरा प्रश्न तो ऊँट से ही जुड़ा है इसलिए मैं दूसरी उपमा दे भी कैसे सकती हूँ! राजस्थान में एक कहावत है कि 'हलसोतिए' (वर्षा के बाद प्रथम बुवाई) के अवसर पर यदि किसान के ऊँट की मौत हो जाती है तो किसान भी एक तरह से मर जाता है। आज जब कृषि यंत्र-आधारित है तो आपको यह कहावत झूठी या हास्यास्पद लग सकती है लेकिन यह बात कुछ दशकों पहले की है जब हमारी कृषि का आधार पशु ही थे।

मैं सात या आठ वर्ष की रही होऊँगी। उस दिन जब सुबह-सुबह नींद से जागी तो देखा घर में एक उत्सव का सा माहौल था। माँ टोकनी में मीठा दलिया बना रही थी। पास ही गर्म पानी की एक बाल्टी भरी पड़ी थी। माँ टोकनी में कड़छी चला रही थी तभी बाहर से दादा जी ने आवाज़ दी, ''बहू! गर्म पानी ला दो!'' माँ जब बाल्टी उठाकर बाड़े की ओर चली तो मैं भी उसके पीछे-पीछे चल पड़ी।

हमारे घर के उत्तर की ओर बाड़ा था। दीवार के बीच में दरवाज़ा रख लिया गया था। पशुओं को घर के ही मुख्य द्वार से होकर बाहर-भीतर ले जाया जा सकता था। मैंने देखा बाड़े में भाखलों (ऊँट की ऊन और पुरानी रूई से बने खेसनुमा वस्त्र) की एक कनात तनी हुई है। उसी की ओट में हमारी ऊँटनी खड़ी हुई है। उसके पास एक प्यारा-सा 'टोडिया' (ऊँटनी का छौना) खड़ा था। वह अपने डगमगाते पैरों से ऊँटनी की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहा था। शिथिल-सी ऊँटनी उसे सूँघ रही थी। गाँव के दो-एक लोग तथा मेरे पिता जी भी वहाँ बैठे थे। पास में अलाव जल रहा था।

''हमारी सां'ड (ऊँटनी) ब्या गई! हमारी सां'ड ब्या गई!'' कहते-कहते ख़ुशी से उछलते हुए मैं अपने दादा जी के कंधों पर झूल गई। दरअसल ऊँटनी के जापे का विशेष ध्यान रखा जाता है। उसे 'अलाय-बलाय' से बचाने के लिए अलग स्थान पर कनातें तानकर 'प्रसूति कक्ष' बनाया जाता है जहाँ हर एक को तो जाने तक की इजाज़त नहीं होती। दादा जी ने गर्म पानी में एक कपड़ा भिगोकर उससे नवजात टोडिए का शरीर पोंछा। दादा जी ने बताया कि वह टोडिया (नर ऊँट) ही है और उसका मुँह पकड़कर ऊँटनी के थनों से लगा दिया। मैं भी अपने बाल-सुलभ कौतुक को शांत करने के लिए ऊँटनी के पास चली गई और उस नरम-मुलायम छौने के शरीर पर बार-बार हाथ फिराने लगी। वह मुझे बहुत ही मासूम, कोमल और प्यारा लग रहा था। ऊँटनी उसे दूध पिला रही थी तथा तृप्ति से कभी-कभी गरदन मोड़कर उसकी ओर निहार भी लेती थी। आँखें बंद कर वह अब जुगाली कर रही थी। प्रसव की पीड़ा से मुक्ति के बाद अब जैसे सृजन का आनंद उसे भाव-विभोर कर रहा था। थोड़ी देर बाद माँ जब दलिया लेकर आ गई तो दादा ने उसे बट्ठल (तसले) में डाल दिया और उसमें घी उँडेल दिया फिर ठंडा होने के लिए एक तरफ़ सरका दिया। ऊँटनी उसकी गंध से मचलकर उधर लपकने लगी तो दादा जी ने डाँटते हुए कहा, ''रुक! अभी रुक! गर्म है! ठंडा तो हो जाने दे!'' ऊँटनी जैसे उनकी भाषा समझ गई और पुनः जुगाली करने लगी। मैं तो बार-बार छौने पर हाथ फिरा रही थी। मेरा बाल सुलभ मन उसे गोद में उठाने को मचल रहा था। बीच-बीच में ऊँटनी कभी अपने छौने को तो कभी मेरा सिर सूँघ लेती। पशु अपनी घ्राण शक्ति के माध्यम से भावों को समझ लेते हैं।

अब मुझे एक नया काम मिल गया था। रोज़ स्कूल से आते ही ऊँटनी को गुड़ की एक पेड़ी खिलाती फिर टोडिए के साथ खेलने लगती।

वह भी मेरे पीछे-पीछे रहता। अब एक महीने का हो गया था। दादा जी अब ऊँटनी को घुमाने के लिए खेत ले जाते तो वह भी पीछे-पीछे चलता। कभी ऊल-जुलूल तरीक़े से कूदता! कभी ज़ोर से बोलता और कभी अपनी थूथन या गरदन ऊँटनी से रगड़ता। मैं ऊँटनी पर बैठे-बैठे ही उसकी क्रीड़ाएँ देखती। उसकी उन बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से मुझे रस मिलता। सच ही है, बचपन चाहे किसी का भी हो मस्त, आनंददायी और क्रीड़ामय होता है।

अभी होली नहीं आई थी। गाँव में सारी-सारी रात चंग बजते। गीत गाए जाते। वह फ़रवरी का महीना ही रहा होगा। रविवार या कोई छुट्टी का दिन था। दादा जी और मैं खेत की ओर जा रहे थे। मैं ऊँटनी पर बैठी थी। दादा जी उसकी मोह्री (नकेल) पकड़े-पकड़े आगे चल रहे थे। काफ़ी ठंड थी। मैंने चादर की कसकर बुक्कल मारी हुई थी। टोडिया कभी हमारे साथ चलने लगता तो कभी दौड़कर 'तापड़िए' करता हुआ आगे निकल जाता। फिर लौटकर हमारे पास आ जाता। वह कभी किसी झाड़ी को सूँघता, कभी किसी पौधे पर मुँह मारता, इस प्रकार वह वनस्पति जगत से अपनी पहचान बना रहा था। उसके करतब देख-देखकर मैं ख़ुश हो रही थी।

खेत में पहुँचकर दादा जी ने ऊँटनी को एक खेजड़ी के ठूँठ से बाँध दिया और हरे चने उखाड़कर उसके आगे डाल दिए। मुझे वहीं रुकने का कहकर वे ख़ुद एक-दो खेत दूर पड़ोस के खेत में चिलम पीने या गपशप करने चले गए। मैं इधर-उधर कूदती-फाँदती फिर रही थी। टोडिया भी कभी मेरे पीछे-पीछे तो कभी ऊँटनी के पास चला जाता। मैं खेत में खड़ी विभिन्न वनस्पतियों के फूल तोड़-तोड़कर उनका गुच्छा बनाने लगी। तभी मुझे एक ऊँट का बलबलाना सुनाई दिया। मैं उसी ओर देखने लगी।

ऊँट बेतहाशा हमारे खेत की ओर ही दौड़ा चला आ रहा था। उसका मुँह झागों से भरा हुआ था! ग'ल्ला (जीभ) निकालकर उसका ज़ोर से बलबलाना, पैर पटकना, मांकड़े मारना आदि मन में दहशत उत्पन्न कर रहा था। मैं नहीं जानती थी कि वह हमारे खेत की तरफ़ ही क्यों आ रहा



है? मैं भयवश उसकी ओर टकटकी बाँधे देख रही थी। यह भी भूल गई कि दौड़कर अपने दादा जी के पास चली जाऊँ या उन्हें आवाज़ ही दे दूँ। ऊँट को अपनी ओर आते देख ऊँटनी भी भय से अरड़ाने (अर्राने) लगी और मोह्री (नकेल) तुड़वाने की चेष्टा करने लगी। टोडिया भयभीत होकर ऊँटनी के पास आ गया और

उसके चारों ओर चक्कर काटने लगा। इतने में वह मदांध ऊँट पास आ पहुँचा। वह बेहद आक्रामक हो रहा था। ऊँटनी के पास आते ही उसे लगा कि टोडिया ऊँटनी और उसके बीच दीवार है इसलिए पहले इस दीवार को ही हटाना चाहिए। उसने 'डांचली' (उचककर मुँह से पकड़ना) मारकर टोडिए की गरदन पकड़ी और ज़ोर से झटका दिया। टोडिया ज़मीन पर गिर पड़ा तो वह उसके ऊपर बैठ गया और उसे कुचलने लगा। तभी ऊँटनी ने गरदन को ज़ोर से झटका दिया जिससे नकेल टूट गई। स्वतंत्र होकर वह उस क्रूर ऊँट पर टूट पड़ी लेकिन अब तक उसकी आँखों की किरकिरी दूर हो चुकी थी। मैं डर से ज़ोर-ज़ोर से पैर पटकती हुई चिल्लाने लगी लेकिन इससे ऊँट को क्या फ़र्क़ पड़ता।

ऊँटनी उसका अधिक देर तक सामना न कर सकी इसलिए वह दौड़ने लगी। ऊँट उसके पीछे-पीछे दौड़ रहा था। वह उसे क़ाबू करने के लिए कभी उसकी पीठ पर काटता तो कभी गरदन पर। कभी उसे धक्का देकर गिराने की कोशिश करता। ऊँटनी ने उससे बचने के लिए झिरकी (दौड़ते-दौड़ते एकदम नब्बे अंश पर मुड़ना) खाई किंतु संतुलन न रख सकी और गिर पड़ी। ज़ोर से 'कड़ाक' शब्द हुआ। ऊँट उसके ऊपर बैठ गया और घुटनों से उसे कुचलने लगा। ऊँटनी दर्द एवं बेबसी में अरड़ाए जा रही थी।

शोर सुनकर दादा जी और दो अन्य खेत-पड़ोसी लाठियाँ ले-लेकर आ गए थे और ऊँट पर पिल पड़े। बड़ी मुश्किल से उसे क़ाबू में किया गया किंतु जब दादा जी ने ऊँटनी को देखा तो अफ़सोस से माथा पकड़कर बैठ गए। अचानक गिरने से ऊँटनी की आगे वाली दोनों टाँगें टूट गई थीं। वह दर्द से बिलबिला रही थी। इधर टोडिया भी ठंडा पड़ चुका था। मैं तो बस रोए जा रही थी। मैंने ग़ुस्से में भरकर बँधे हुए ऊँट को लातें भी मारी। दादा ने मुझे पुचकारकर बाँहों में भर लिया। आँसू पोंछे। क्रोध और बेबसी में ऊँट अब भी बलबला रहा था। उसकी आँखों से जैसे चिनगारियाँ बरस रही थीं। नर की मादा के प्रति इस क्रूरता ने जैसे मेरे बालमन को भी कुचल दिया था। मेरे मन में अनेकानेक प्रश्न उठ रहे थे लेकिन अंतिम परिणति अभी शेष थी!

मेरे दादा जी और मैं लुटे हुए व्यापारियों की तरह घर लौटे। हालाँकि मेरे दादा जी यह बात भली-भाँति जानते थे कि ऊँट की टूटी हड्डी कभी जुड़ती नहीं इसके बावजूद वे गाँव के ही एक सयाने को जो पशुओं की दवा-दारू करता था, अपने साथ लेकर खेत में गए। मैं भी साथ गई थी। ऊँटनी रह-रहकर बिलबिला रही थी। उसकी आँखों के नीचे का हिस्सा भीगकर काला हो गया था, जैसे पीड़ा और दुख के कारण वह रो रही थी। मुझे भी उसे देखकर रोना आ गया। सयाने ने उसकी जाँच करके नकार के रूप में गरदन हिलाई। दादा ने लंबी सिसकारी भरी और घर लौट आए।

इसके आगे की कहानी लंबी नहीं है। घर का कोई-न-कोई सदस्य रोज़-रोज़ खेत तो जाता ही था। वह कुछ सूखा या हरा चारा ऊँटनी के आगे डाल आता। उसे पानी पिला देता। वह धीरे-धीरे सूख रही थी। दादा जी आजकल अकसर उदास रहते थे। न जाने वे किस उधेड़बुन में खोए रहते। वे जब भी खेत से लौटते अधिक दुखी और बेचैन दिखलाई पड़ते। एक दिन उन्होंने बलराम चाचा को बुलाया। वे रिश्ते में मेरे चाचा लगते थे। उनके पास बंदूक़ थी। वे उन्हें साथ लेकर खेत की ओर चल पड़े। मैं भी उनके साथ जाने की ज़िद्द करने लगी। दादा जी ने पहले तो मुझे झिड़क दिया फिर न जाने क्या सोचकर मुझे साथ ले लिया। शायद उस क्रूर किंतु संवेदनापूर्ण घटना का प्रत्यक्षदर्शी बनाने के लिए या ऊँटनी के प्रति मेरे मन में पनपे मोह को सदा-सदा के लिए ख़त्म करने के लिए या फिर यह समझाने के लिए कि कई बार मौत जीवन से अधिक करुणापूर्ण लेकिन सुखद होती है।

शिरोमणि महतो

दारू की गंध

"झोंटा पकड़के निकाल ई हरजाई को...दारू गारती है कि कोठा खोला है...रात-रात भर भतार लोग आते रहते हैं...!" दादी हलक़ फाड़-फाड़कर चीख़ रही थी। समूचा वजूद काँप रहा था। मानो बूढ़ी देह में कोई शक्ति सवार हो गई हो।

"काकी जानती हो, कल मैंने...कल नहीं परसों इसको पचास टक्का दिया...और आज कहती है कि सब वसूल हो गया। पचास टक्का में पाँच बोतल दारू मिलती है—दस टक्के बोतल...!" झबरू तुरी लड़खड़ाता हुआ दादी के सामने आया। मुँह से अधजले मुर्दे की गंध आ रही थी। दादी नाक सिकोड़कर उस पर तुनक पड़ी, "झबरू चल फूट यहाँ से वरना एक डाँग दूँगी...चल रास्ता नाप यहाँ से...चल परे...!"

दादी का रौद्र रूप देखकर झबरू ने रास्ता लिया। कै...कै...करके पेट का कचरा दो-तीन बार उगला और थोड़ी दूर चलकर भाँजने लगा, "ई साली हमरा ठगती है...पचास टक्का मुफ्त में आता है क्या... ? मजा चखा दूँगा...धर-पकड़ कर दूँगा न सब वसूल हो जाएगा...कौन क्या बिगाड़ लेगा हमरा...!" झबरू की कर्कश आवाज़ रात की छाती भेदती हुई दूर जाकर गुम हो रही थी। शराबी लोग भी पर्यावरण को दूषित करने में कम नहीं होते। एक तो भोंभें की तरह चिल्लाते हैं। दूसरे जहाँ-तहाँ पेट का कचरा उगल देते हैं, सो अलग।

"ई हरजाई ने हमरा कुल-खानदान बदनाम करके रख दिया है...तुरी-महरा सबको पिलाती है और रात भर मजा मारती है...! जीना हराम कर रखा है कुलछनी ने...!" दादी तमतमाती हुई आई और माँ को दो-तीन डाँग जड़ दिया। माँ तनिक हिली-डुली भी नहीं। बर्फ़ की तरह जमी रही वह। जिसकी शीतलता से दादी के अंदर की उफनती ज्वाला शांत हो गई। वह अंटशंट बड़बड़ाती हुई चली गई। उसके पीछे बाबू जी, भैया और भाभी भी हो लिए। भाभी ने बाहर का दरवाज़ा धड़ाम से बंद कर दिया।

चारों तरफ़ सन्नाटा पसरने लगा था। माँ के अंदर अब तक जमी बर्फ़ का बाँध वेदना व ग्लानि के ताप से पिघलने लगा। आँसू रिसने लगे और बाँध टूट गया। वह फफक पड़ी। दीवार से टिक

शिरोमणि महतो का जन्म 1973 में हुआ था। एक कविता-संग्रह और एक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : विनोद बिहारी स्मारक उच्च विद्यालय, नावाडीह, बोकारो-829144 (झारखंड), मो. 9931552982

कर बैठ गई और आँचल से मुँह छुपाकर हिचक-हिचककर रोने लगी। मैं बरामदे में ही चुपचाप बर्फ़-सा होकर बैठ गया था। दीरखे पर ढिबरी की लौ केंचुए की तरह रेंग-सी रही थी अपनी संपूर्ण शक्ति बटोरकर।

धीरे-धीरे सन्नाटा साँप की तरह रेंगने लगा था मानो घर से कोई मुर्दा निकला हो। आकाश से चाँद विलुप्त था जैसे मुँह पर कालिख पोतकर कहीं छुप गया हो। ठंडी रात में नक्षत्र ठिठुर रहे थे—अपने अस्तित्व को स्थापित रखने के लिए संघर्ष कर रहे थे—मेरी माँ की तरह...!

ढिबरी का मद्धिम प्रकाश अँधेरे को पीते-पीते थकने लगा था। माँ के आँसुओं का सोता सूख गया था। सूजे गालों में आँसुओं की पपड़ियाँ जम गई थीं। वह दीवार से सटी हुई पलकें बंद कर बैठी थीं जैसे नींद में हों।

माँ के बारे में सोचते-सोचते मेरा मन आर्द्र और बोझिल होने लगा था। मन में आया माँ को उठाकर भीतर ले चलूँ तभी माँ की आर्त आवाज़ ने मेरी तंद्रा भंग की, "अरे! तू अभी तक बैठा ही है...सोया नहीं... ? तू इस तरह मेरे साथ तिल-तिल क्यों गलता है...और तू मुझे भी इस तरह क्यों गलाता है... ? क्या सोच रहा है तू इतनी रात तक... ?" माँ उठकर मेरे सामने आ गई थी, क्या तू भी अपनी माँ को वही समझता है...वेश्या ?

"माँ... !" मेरे मुख से अस्फुट स्वर निकला और मैं माँ की छाती में दुबक गया था। आसमान में एक तारा टूटा। उसकी क्षीण प्रभा क्षण में विलुप्त हो गई, किंतु मेरी तंद्रा भंग कर गई। मैंने एक दीर्घ श्वास लिया और छत पर टहलने लगा। फिर रेलिंग से सटकर आसमान की ओर देखा तो मन में एक टीस-सी उठी—आह! अपने अस्तित्व को स्थापित रखने के लिए संघर्ष करते-करते टूट जाते हैं ये तारे भी आदमी की तरह...! बिलकुल मेरी माँ की तरह...!

मेरी माँ ने भी जीवन भर संघर्ष किया था। वह सारी उम्र दारू गारती रही। दारू से ही हम दोनों माँ-बेटे का गुज़र-बसर होता था। तब बाबू जी, दादी और भैया-भाभी एक साथ रहते। केवल हम माँ-बेटे अलग! उस समय मैं पंद्रह-सोलह साल का था। हाई स्कूल में पढ़ता था। बाबू जी को टी.बी. हो गई थी। वे एक प्राइमरी स्कूल में शिक्षक थे। महीना में दस-बारह दिन ही ड्यूटी करते थे। वेतन के जो भी पैसे मिलते सब दादी और भैया को लाकर देते। दादी घर चलाती थी और भैया-भाभी खेती-बारी सँभालते। एक नौकर भी होता था।

दादी, भैया को बहुत लाड़ करती। मैं तो उसे फूटी आँख भी नहीं सुहाता। मेरे लिए कर्मजला और मुँहजला जैसे विशेषणों का प्रयोग करती। मेरा बदन कृश था और रंग तो काला था ही—बिलकुल मरियल-सा चलता-फिरता कंकाल।

ठीक विपरीत भैया का रंग गोरा और हृष्ट-पुष्ट ख़ूब सुंदर शरीर, घोड़े जैसा। भाभी भी थी—टमाटर की तरह गोल-मटोल लाल। वह पेट से थी सो चेहरा सरसों के फूल-सा खिला रहता। भैया हमसे पंद्रह-सोलह साल बड़े थे। बी.ए. के बाद खेती करने लगे थे। खेती बड़ी लगन से करते।

दरअसल भैया मेरे सौतेले भाई थे। पहली माँ का बेटा। जब पहली माँ का देहांत हुआ उस समय भैया चौदह-पंद्रह साल के थे। बाबू जी की उम्र चालीस के आसपास थी। शिक्षक तो थे लेकिन थे बड़े कामुक! विधुर का जीवन उन्हें नरक लग रहा था। चार-पाँच महीने में ही कई कारनामे कर दिए। आफ़त मचा दी थी। वैसे शुरू से ही कई औरतों से उनका प्रेम-प्रसंग चर्चित रहा था। लोग-बाग परदे पीछे विरोध करते थे। लेकिन प्रत्यक्ष में कुछ नहीं कहते थे। गाँव के इकलौते मास्टर जो थे। एक साठ साल की विधवा के साथ रंगे हाथों पकड़े गए। लोगों ने विरोध नहीं, जी भर विनोद किया। कुछेक सुझाव आए, "शादी कर लो, अभी उम्र बहुत

है...कितना भटकते फिरोगे...किस-किस गड्ढे का पानी पिओगे ?''

तब मेरी माँ को ब्याह कर लाए। उस समय मेरी माँ सोलह साल की थी। सुंदर-छरहरी। सुख के दिन शुरू हुए ही थे कि भाग्य में वज्र आ गिरा। मेरे नाना बहुत ग़रीब थे। बूढ़े बाप की छाती में जवान हो रही बेटी नासूर की तरह चुभ रही थी। तिलक-दहेज़ कहाँ से जुगाड़ करते जो जोड़ी का लड़का ढूँढ़ते। सो ढाई गुना बड़े वर के साथ बेटी को ठेल दिया।

जब शादी की चर्चा चल रही थी तो माँ पिता की उम्र के वर को देखकर ख़ूब रोई थी कई दिनों तक। तब मेरी नानी ने माँ को समझाते हुए लाड़ से कहा था, ''पगली तू रोती क्यों रे...तेरे भाग्य में सुख लिखा है...तेरा भाग्य अच्छा है जो ऐसा रिश्ता आ रहा है! तू राज करेगी...मास्टर की बहू कहलाएगी...मास्टरनी।''

विवाहोपरांत गाँव के लोगों ने ख़ूब खिल्ली उड़ाई। व्यंग्य-बाण छोड़े, ''मास्टर साहब जोरू ब्याह कर लाया है या पतोहू...अरे ये तो उनकी बेटी बराबर है, इससे तो बेटे का ब्याह कर देते। बुढ़ापे में कली का मज़ा लूट रहे हैं...धन्य हो मास्टर जी!''

औरतें भी पीछे न थीं। माँ को देखकर तानें कसतीं, ''बुढ़ऊ के पेटवा के तरे दुबक जाती होगी...ओह दईया...हाय राम...!''

फूल-सी मेरी माँ ने वज्रघात को कैसे सहा होगा? क्या अपना यौवन उसे कभी रास आया होगा? अपने रंग-रूप से वह कभी रिझी होगी...या फिर पति को रिझाने के लिए कभी सजी-सँवरी होगी...। शारीरिक यातनाएँ और मानसिक यंत्रणाएँ माँ को सदा उद्वेलित करती रहीं! क्या औरत की यही नियति है? यह कैसी बिडंबना है!

नशे में धुत्त होकर बाबू जी आए और माँ को धड़ाम से खाट पर पटक दिया...। कुछ देर बाद वे उल्टी करने लगे। माँ के कपड़ों में कचड़ा



लग गया था। माँ मुश्किल से बाबू जी के चंगुल से छूटी और वह भी उल्टी करने लगी। पूरे कमरे में दारू की दुर्गंध फैल गई थी। मैं डर से एक कोने में चिपका रहा। बाबू जी सँभलते हुए खाट से उठे और माँ को झाड़ू से मारने लगे। उस दिन बाबू जी ने माँ को मारते-मारते अधमरा कर दिया था। समूचे शरीर में झाड़ू के निशान उग आए थे। कुछ निशान माँ के शरीर में सदा मौजूद रहे अपनी मूक व्यथा कहते हुए।

जब मेरा जन्म हुआ माँ काफ़ी दुबली हो गई थी। विवाह के डेढ़-दो साल बाद ही मेरा जन्म हुआ था। मेरी माँ दादी को कभी सुहाई नहीं, भला मैं क्यों सुहाता? दादी कुढ़कर कहती, ''पिल्लू जैसा बेटा जना है...जाके किसी गड्ढे में फेंक आ...नमक चटाकर मार डाल ई पिल्लू को...!''

दादी बाबू जी के दूसरे ब्याह के विरुद्ध थी। घर का काम-काज सँभालने के लिए वह भैया का विवाह करना चाहती थी। दादी की नज़रों में भैया जवान हो गए थे। बाबू जी की काली करतूतों के कारण वह भैया से भी भय खाने लगी थी।

लेकिन भैया का चरित्र अच्छा था। मेरे जन्म के दो साल बाद भैया का विवाह हुआ।

जब मुझे कुछ बुद्धि आई तो मैं माँ के दुख को कुछ-कुछ समझने लगा था। बाबू जी माँ को प्रताड़ित करते तो मैं उन पर झपट पड़ता। वे मुझे एक ओर धकेल देते। मैं अपनी पराजय पर हाथ-पाँव छींटता रहता, आँसू बहाता रहता। बाबू जी की यातनाओं से मुक्ति पाते ही माँ मुझे अपने आँचल में छुपा लेती और मैं छाती से चिपटकर भींगता रहता...।

भाभी दादी की लाड़ली थी। दादी ने उसे सर पर चढ़ा रखा था। वह माँ को कुछ गिनती नहीं थी। यदि माँ भाभी को थोड़ा-सा कुछ कहती तो दादी चील की भाँति झपट पड़ती। माँ को गरियाने और कोसने लगती।

एक दिन माँ आँगन में झाड़ू लगा रही थी। भाभी ऐंठकर बोली, "सूझता नहीं सब सकार-पतार छोड़े जा रही हो...!" माँ को बुरा लगा। बोली, "ऐ बहू—ठीक से बोल, सूझने की बात काहे करती है...तू हमसे छोटी है...।" प्रत्युत्तर में भाभी के शब्द बाण चलते कि उससे पहले ही दादी माँ पर टूट पड़ी। झाड़ू छीनकर माँ को बुरी तरह पीटने लगी। माँ पिटती जा रही थी, चीख़ती जा रही थी। आह! कैसी हृदय विदारक थी माँ की चीख़ें, कितना भयावह दृश्य था? मैं दादी पर झपट पड़ा था। उसने मुझे भी दो-तीन झाड़ू लगा दी थी।

उसी दिन दादी ने माँ के सारे कपड़े-लत्ते निकालकर फेंक दिए और कुछ बर्तन जो माँ विवाह के समय लाई थी। खाने-पीने के लिए कुछ नहीं मिला। फटे-पुराने कपड़े, मैले-मटमैले बर्तन और नंग-धड़ंग मुझे आँचल में समेटकर बरामदे की टूटी-फूटी कोठरी में सिमट गई थी माँ! कोठरी की दीवारें दरकी हुई थीं—माँ के हृदय की तरह...।

इसी बीच बाबू जी को टी.बी. हो गई थी। चेहरा अधमरा-सा हो गया। उन पर भैया और दादी का शासन चलने लगा था। इलाज चल रहा था। उनकी कामना और वासना सब विलुप्त हो गई थी। शराब व शबाब दोनों छूट गए। माँ के साथ उनका शारीरिक संबंध भी छूट गया... कदाचित् आत्मिक संबंध तो कभी रहा ही नहीं...।

इधर-उधर करके माँ अपना और मेरा गुज़ारा करने लगी थी। कुछ दिनों बाद माँ ने दारू बनानी शुरू की। मेरी नानी दारू गारती थी। माँ ने उसी से सीखा था। दारू गारने से स्थिति में सुधार हुआ। अच्छी आमदनी होने लगी। मैं स्कूल जाने लगा। अलग हो जाने से अब दादी के ज़ोर-ज़ुल्म कम हुए। माँ की सेहत में सुधार हुआ। चेहरे में लावण्य और लालित्य फूटने लगा। आदमी अपने मन को कब तक कचोटकर रख सकता है? और मेरी माँ तो अभी जवान थी...।

मेरी माँ को कई नामों से जोड़ा जाने लगा। हमारे समाज में पति से अलग रह रही औरत को कई तरह की उपाधियों से अलंकृत किया जाता है—हरजाई-छिनाल-वेश्या।



मेरे गाँव वाले भी मेरी माँ को अलंकारों से विभूषित करने लगे। लोग चटखारे लेते, ''मास्टरनी शराब में शबाब का नशा डालती है, एक बार जो उसकी पी लेगा, वह दूसरे की क्या पीएगा? इसीलिए तो रात-रातभर धंधा चलता है...कोठा खुला रहता है...ढिबरी जली रहती है...!''

कुछ लोग मुझे भी हेय दृष्टि से देखते। मैं किशोर हो चला था। सब कुछ समझने लगा था। मैं विचलित हो जाता, तिलमिला उठता। माँ पर लगाए गए आक्षेप सत्य प्रतीत होने लगते थे। मेरी नज़रों में खीरू चाचा कौंधने लगते। खीरू चाचा से माँ का लगाव काफ़ी अधिक था। वह खीरू चाचा को रोज़ दारू देती थी। लेकिन मैंने उनसे कभी पैसे लेते नहीं देखा। झबरू तुरी भी रोज़ आता था और बराबर उधार ही पीता था। कभी-कभार ही वह पैसे देता था।

मेरे मन में माँ के प्रति शंका व घृणा के कीड़े रेंगने लगते। लेकिन अब तक मुझें कोई पुख्ता सबूत न मिला था। सो अपना रोष माँ पर प्रकट न कर पाता। घुट-घुटकर रह जाता। माँ मेरी घुटन को समझती थी। फिर भी मूक बनी रहती थी। वह मेरी शंका से भय खाने लगती थी। शायद माँ सोचती कि जवान हो रहे बेटे को क्या समझाए? क्या बेटे के सामने सतीत्व की परीक्षा देनी पड़ेगी? और वह घुटकर रह जाती। हम दोनों माँ-बेटे के बीच एक खाई बढ़ती जा रही थी। माँ अपने बेटे से नज़रें नहीं मिला पा रही थी। वह अपनी नज़रों में ही गिरती जा रही थी।

कभी-कभी मेरे मन में आक्रोश की ज्वाला धधक उठती। उस समय समस्त वर्जनाओं और नियंत्रण के बावजूद जी करता, माँ को भला-बुरा कह दूँ...! दारू की हंडिया-चूल्हा-बोतल सब तोड़ दूँ...। खीरू चाचा का सिर फोड़ दूँ और झबरू तुरी को ख़ूब लताड़ूँ...। पढ़ना-लिखना छोड़कर कहीं भाग जाऊँ या माँ को ही घसीट-घसीटकर ख़ूब पीटूँ और घर से निकाल दूँ...। मन में तरह-तरह की दुर्भावनाएँ उठतीं-गिरतीं। दारू की बू से मेरे मन-प्राण मिचलने लगते।

परंतु माँ के व्यवहार में कहीं ऐसा भी था जो मन के उमड़ते उफानों को बिलकुल शांत कर देता। उस समय मैं उससे नज़रें नहीं मिला पाता। तब लगता कि कहीं से दोषी मैं हूँ। मन के किसी कोने में यह विचार भी कौंधता कि माँ को मेरे ही कारण सब सहना पड़ रहा है और मैं माँ के चेहरे से टपकती सादगी व शालीनता को अपलक देखता रहता...। माँ के प्रति ऐसा सोचना पाप है—महापाप! और मैं तड़प उठता—फिर माँ दारू क्यों पीती है? इस विष का पान क्यों करती है...?

दस-बारह साल की आयु तक मैं माँ के साथ ही सोता था। एक बार आधी रात को माँ ने मुझे अपनी बाँहों में जकड़ लिया और इधर-उधर अविरत चूमने लगी। मेरी नींद उचट गई। मैं घबरा गया, ''माँ-माँ, क्या हुआ? यह क्या कर रही हो...?'' माँ हड़बड़ाकर उठ बैठी, साँसें भांथी-सी चल रही थीं। मैंने उठकर ढिबरी जला दी और सहमे-सहमे पूछा, ''क्या हुआ माँ?''

''कुछ नहीं बेटा, एक बुरा सपना देख रही थी...!'' यकायक उसके मोटे-मोटे आँसू लुढ़क आए। वातावरण बोझिल हो गया। सहसा माँ उठी और बोतल से एक गिलास दारू ढालकर गटागट पी गई...! माँ की इन अप्रत्याशित हरकतों को मैं निर्वाक् देखता रह गया।

फिर माँ ज़मीन पर गेंदरा बिछाकर सो गई और उस दिन से माँ ज़मीन पर ही सोने लगी और रोज़ रात को सोते समय एक गिलास दारू पी लिया करती थी...।

तब मैं कुछ न समझ पाता था। परंतु आज समझता हूँ तो मन तड़प उठता है—और मेरा पूरा अस्तित्व उस दारू की गंध से सुवासित होने लगता है...।

कृष्ण कुमार 'आशु'

बेटियाँ

भवानी प्रसाद की आँखों से नींद कोसों दूर थी। शरीर पलंग पर था मगर दिल कहीं और। वे समझ नहीं पा रहे थे कि आख़िर वे करें तो करें क्या? उनके सामने एक तरफ़ कुआँ–दूसरी तरफ़ खाई थी। एक तरफ़ उनकी आत्मा उन्हें धिक्कारती कि उन्होंने मोह–माया में फँसकर अपनी तमाम उम्र की पूँजी गँवा दी। अपने वे सिद्धांत जिनके लिए वे बड़े अधिकारियों व पूँजीपतियों की भी परवाह नहीं करते थे, आख़िर क्या थे। जिन्हें निभाकर उन्होंने ज़माने भर की नाराज़गी और भीषण परेशानियाँ झेली थीं। अब वे पूरी तरह कंगाल हैं! आदर्श के रूप में देखने वाली नई पीढ़ी उन्हें दोगला कहकर चिढ़ा रही है। दूसरी ओर उनकी फूल–सी बच्ची...नहीं...नहीं...नहीं...! कल्पना करके ही सिहर उठे भवानी प्रसाद!

भवानी प्रसाद को लगा कि वे किसी चक्रव्यूह में फँस गए हैं। ऐसे चक्रव्यूह में जिसमें से निकलने का रास्ता शायद अभिमन्यु को भी ज्ञात नहीं था। पैंतीस वर्ष की अपनी सरकारी नौकरी में भी उनके सामने ऐसी उलझन कभी नहीं आई जैसी आज आ रही है। नगर परिषद् के अधिशासी अभियंता जैसे कमाऊ पद से सेवानिवृत्त होकर वे आर्थिक रूप से भले ही ज़्यादा सुदृढ़ नहीं थे लेकिन चारित्रिक रूप से वे शहर के बड़े–बड़े लोगों से कहीं ज़्यादा मज़बूत और ऊँचे थे। ज़िंदगी में जाने कितनी बार उन्होंने सोने–चाँदी के चमचमाते सिक्कों और शराब व शबाब के मदमाते प्रस्तावों को ठोकर मारी थी। उनके पास ईमानदारी, सेवा, सत्य, निष्ठा और सिद्धांतों की जो पूँजी थी, उसने उन्हें कभी किसी से नीचा नहीं होने दिया। लोग उनकी मिसाल दिया करते थे कि सूरज पूर्व के बजाय भले ही पश्चिम से उदय हो जाए, पर भवानी प्रसाद की बात में कभी फ़र्क़ नहीं आ सकता।

सेवानिवृत्ति के पश्चात् भी वे अपनी बेबाकी और दिलेरी के कारण अलग पहचान रखते थे। वे इस सिद्धांत से सहमत थे कि ज़ुल्म करने वाला तो अपराधी है ही, ज़ुल्म सहने वाला उससे भी बड़ा अपराधी है। बल्कि वे तो इस बात को कुछ और आगे बढ़ाकर कहते थे, "ज़ुल्म होते देखकर भी चुपचाप कन्नी काट जाने वाले लोग सबसे बड़े अपराधी हैं जो ग़लत को ग़लत कहने की हिम्मत नहीं रखता, उसे समाज में रहने का कोई अधिकार नहीं।"

कृष्ण कुमार 'आशु' की रचनाएँ पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 128, मुंशी प्रेमचंद कॉलोनी, माइक्रोवेव टॉवर के पास, पुरानी आबादी, श्रीगंगानगर–335001 (राज.)

भवानी प्रसाद भूले नहीं हैं कि नौकरी के दौरान भी न तो उन्होंने किसी की जी हुज़ूरी की और न ही ऐसे लोगों को कभी पसंद किया। वे तो आयुक्त और सभापति के ग़लत निर्णय पर भी टिप्पणी करने से नहीं चूकते थे। चोर को चोर कहने की अपनी बेबाकी के कारण जाने कितनी बार उन्हें तबादले की पीड़ा भी झेलनी पड़ी। वे असंख्य लोगों की आँख की किरकिरी भी बने लेकिन कभी अपने सिद्धांतों से नहीं टले। न तो उन्होंने अपनी जीवन शैली बदली, न ही काम करने का अंदाज़!

वैसे उनके साथी श्यामलाल भी ईमानदार थे लेकिन वैसे नहीं जैसे भवानी प्रसाद चाहते थे, खरे सोने जैसे! क्योंकि वे ख़ुद तो कभी ग़लत काम नहीं करते थे लेकिन दूसरे के ग़लत काम पर आँख भी मूँद लेते थे। इस मुद्दे पर जब कभी श्यामलाल से चर्चा होती, भवानी प्रसाद कहते, ''आदमी की सिर्फ़ दो ही नस्लें होती हैं। ईमानदार या बेईमान। बीच का कोई रास्ता नहीं होता। यह नहीं चल सकता कि मैं ख़ुद रिश्वत नहीं लूँ, कोई ग़लत काम नहीं करूँ लेकिन अपने इर्द-गिर्द होते हज़ारों ग़लत कामों पर आँखें मूँदे रहूँ। ग़लत काम देखकर चुप रहना भी ग़लत काम करने वालों के साथ साझेदारी करना है। उसे प्रोत्साहन देना है।''

''आदमी को कभी नौकरी नहीं करनी चाहिए...'' श्यामलाल कहते, ''नौकरियाँ आदमी को डरपोक और दब्बू बना देती हैं। ख़ासतौर से अपने से अयोग्य व्यक्ति के अधीन काम करना तो ख़ुद को तिल-तिलकर मारने जैसा ही होता है। नौकरी से बेदख़ली का भय और भविष्य की सुरक्षा आदमी से वह सब करवा लेती है, जिसे उसकी आत्मा स्वीकार नहीं करती!''

''इसे ही तो नपुंसकता कहते हैं!'' भवानी प्रसाद ज़ोर देकर कहते, ''अगर आपका काम सही है तो कोई माई का लाल आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकता! फिर हमें ज़रूरत क्या है लोगों के ग़लत कामों पर मोहर लगाने की?''

''तुम हिम्मत वाले हो...'' श्यामलाल हार मान लेते, ''हमें तो तीन-तीन बच्चे पालने हैं। तुम्हारा क्या है? पत्नी और एक बेटी। तीन जीव हो। कहीं भी गुज़ारा कर लोगे।''

''पत्नी और बेटी...'' श्यामलाल की वर्षों पूर्व कही बात याद आते ही भवानी प्रसाद की आँखें फिर नम हो आईं और नम आँखों में उनकी बेटी कुसुम का मुस्कुराता हुआ चेहरा तैर गया। इसी साल उसकी इंजीनियरिंग की पढ़ाई पूरी हुई है और उसे देश की एक प्रतिष्ठित कंप्यूटर कंपनी में नौकरी का प्रस्ताव भी मिला है। शुरू से ही पढ़ाई में अव्वल रहने वाली कुसुम को उन्होंने अपनी तरह ईमानदारी और सत्य का पाठ पढ़ाया था। इकलौती संतान होने के बावजूद भवानी प्रसाद के लाड़-प्यार ने उसे बिगाड़ा नहीं था अपितु बेईमानी के सरल-सुगम और सुविधाओं से भरे मार्ग के बजाय सिद्धांतों के कँटीले और दुर्गम पथ पर चलना सिखाया था। उन्हें ख़ुशी इस बात की थी कि कुसुम में भी सुख-सुविधाओं के पीछे भागने की नहीं, कठोर श्रम और निष्ठा से कार्य करने की प्रवृत्ति थी। वह विषम परिस्थितियों में भी हिम्मत नहीं हारती और हर मुसीबत का दिलेरी से मुक़ाबला करती है। लोग उसकी हिम्मत देखकर अकसर कहते हैं, ''आख़िर बेटी किसकी है!'' लेकिन यह सोचते-सोचते उनकी आँखों में बसी अपनी बेटी की तसवीर एकाएक बदल गई। अब मुस्कुराती हुई कुसुम के बजाय भयभीत हिरणी-सी कुसुम उनकी आँखों के सामने थी। उन्हें लगा कि हवस के भूखे भेड़ियों ने कुसुम को अपने नुकीले पंजों में जकड़ रखा है और छटपटाती हुई कुसुम उन्हें पुकार रही है, ''पापा बचाओऽऽऽ! पापा बचाओऽऽऽ!''

''नहीं...नहीं...नहीं...!'' चीख़ पड़े भवानी प्रसाद।

उनकी चीख़ सुनकर पत्नी और कुसुम दौड़कर आईं। उन्हें झिंझोड़ते हुए पत्नी बोली, ''क्या

हुआ कुसुम के पापा? डर गए थे क्या? कोई डरावना सपना देखा? कुछ बोलते क्यों नहीं?''

उन्होंने भयभीत निगाहों से पहले पत्नी और फिर बेटी को देखा। दोनों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। अपने नाम के अनुरूप हमेशा फूल की तरह खिली रहने वाली कुसुम का चेहरा कुम्हला गया था। उसकी आँखों में एक अनजाना-सा भय तैर रहा था। उन्होंने पत्नी व बेटी को इस तरह बदहवास देखा तो ख़ुद को सँभालकर बोले, ''कुछ नहीं। यूँ ही एक बुरा सपना देखा था। तुम दोनों अपने कमरे में जाकर सो जाओ।''

वे फिर सोने का प्रयास करने लगे। पत्नी कुसुम को लेकर उसके कमरे की तरफ़ बढ़ गई। उस घटना के बाद वे कुसुम को अकेली नहीं छोड़ते थे। रात को भी भवानी प्रसाद की पत्नी अपनी बेटी के साथ उसके कमरे में सोती थी। ख़ुद भवानी प्रसाद अपने कमरे में अकेले सोने लगे थे। कभी-कभी उन्हें लगता कि डरी हुई कुसुम नहीं, वे ख़ुद हैं। उन्हें ख़ुद अकेला नहीं रहना चाहिए। फिर वे ख़ुद ही अपने मन को तसल्ली देते, ''हिम्मत से काम लो। यूँ कोई जंगल राज थोड़े ही है कि कुछ भी हो जाए। आख़िर क़ानून-व्यवस्था भी कोई चीज़ है!''

''लेकिन ये लोग क़ानून की कहाँ परवाह करते हैं।'' भवानी प्रसाद का मन फिर अंधी गलियों में भटकने लगा, ''क़ानून को तो वे मात्र खिलौना समझते हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो क्या मजाल थी कि आज वे यूँ घर में घुसकर न सिर्फ़ बदतमीज़ी कर जाएँ बल्कि भयंकर अंजाम की धमकी भी दे जाएँ।''

भवानी प्रसाद फिर अपनी बेटी के बारे में सोचकर परेशान होने लगे। उन्हें लगा कि वे भीतर से कहीं टूट रहे हैं और उनके अंदर कुछ किरच-किरच बिखर रहा है। वे स्वयं को बेहद असहाय और कमज़ोर महसूस कर रहे थे। उनकी सारी शक्ति, आत्मविश्वास और दृढ़ता जाने कहाँ चली गई थी। भवानी प्रसाद सोचने लगे, ''क्या सचमुच बेटियाँ आदमी को कमज़ोर बना देती हैं? बेटियों का भविष्य बाप की सारी शक्ति और ऊर्जा को सोख लेता है?''

नहीं...नहीं...बेटियाँ तो अपने पिता के घर की शान होती हैं। वे कमज़ोर नहीं, शक्तिशाली बनाती हैं। भवानी प्रसाद की अंतरात्मा ने कहा तो वे उठकर बैठ गए और उस घटना पर विचार करने लगे जिसने उनकी ज़िंदगी में भूचाल ला दिया था।

उस दिन वे दिल्ली से लौटे थे और रात को बारह बजे पैदल ही स्टेशन से अपने घर आ रहे थे। उनका घर स्टेशन से कुछ दूर नवविकसित कॉलोनी में है। गली के मोड़ पर उन्होंने किसी की चीख़ सुनी और आवाज़ की दिशा में दौड़े। जब नज़दीक पहुँचे तो दंग रह गए। गुंडेनुमा चार युवक गंगा प्रसाद की जवान लड़की सुषमा को उठाकर जीप में डालने का प्रयास कर रहे थे। सुषमा उनसे बचने के लिए हाथ-पाँव मार रही थी लेकिन उसका बस नहीं चल रहा था। ग़ुस्से में भवानी प्रसाद ने ज़ोर से ललकारा, ''लड़की को छोड़ दो!''

अचानक ललकार सुनकर चारों युवक घबरा गए और लड़की को वहीं छोड़कर जीप में सवार हो फरार हो गए। गंगा प्रसाद का मकान हाल ही में बना था और आस-पास कई भूखंड ख़ाली पड़े थे। इसलिए लड़की की चीख़ कॉलोनी के घरों तक नहीं पहुँच पाई थी। वे उसे पहुँचाने घर गए तो पता चला कि सुषमा के परिवार वाले रिश्तेदारी में किसी विवाह में गए हुए थे। सुषमा अपनी बी.ए. अंतिम वर्ष की परीक्षा के कारण नहीं जा सकी थी और घर पर अकेली थी। भवानी प्रसाद को सुषमा के परिवार वालों पर बहुत ग़ुस्सा आया कि वे लड़की को अकेली छोड़ गए थे। उन्होंने घर को ताला लगाया और डरी हुई सुषमा को अपने घर ले आए। घर में कुसुम का साथ पाकर सुषमा संयत हो गई थी। अगले दिन जब गंगा प्रसाद आए तो उन्हें घटना की जानकारी हुई और अपनी ग़लती का अहसास

भी। वे इस घटना को बुरा सपना समझकर भूल जाना चाहते थे लेकिन भवानी प्रसाद और कुसुम के समझाने पर वे उन युवकों के ख़िलाफ़ पुलिस थाने में अपहरण व बलात्कार के प्रयास का मुक़दमा दर्ज करवाने के लिए पहुँचे। सुषमा ने उन चारों युवकों को पहचान लिया था। वे चारों उसी के कॉलेज में पढ़ते थे। कॉलेज में लड़कियों से छेड़छाड़ और लोगों से मारपीट करना उनका शगल था। अमीरज़ादे होने के कारण उन्हें न तो कॉलेज प्रशासन की परवाह थी और न ही क़ानून-व्यवस्था की।

सुषमा ने नामजद रिपोर्ट लिखवाई और चश्मदीद गवाह के रूप में भवानी प्रसाद के बयान भी दर्ज हुए। थोड़ी हील-हुज्जत के बाद पुलिस ने चारों को गिरफ़्तार किया और चालान पेश कर दिया। अगले दिन वे जमानत पर छूट गए। अदालत में मुक़दमा चल पड़ा। भवानी प्रसाद पर गवाही से मुकरने के लिए दबाव बनाया जाने लगा। पहले मित्रों से दबाव डलवाया और फिर पचास हज़ार रुपए देने की पेशकश हुई लेकिन भवानी प्रसाद को न टलना था, न टले।

एक रात, रात के बारह बजे किसी ने उनके घर का दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़ा खोलते ही सात-आठ गुंडों ने उन्हें धर दबोचा और अंदर से दरवाज़ा बंद कर लिया। दो युवक उनकी पत्नी व बेटी को भी पकड़ लाए थे। उन गुंडों में वे चारों युवक भी शामिल थे जिन्होंने सुषमा को उठाने का प्रयास किया था। उनमें से एक युवक ने झपटकर कुसुम का दुपट्टा खींच लिया था और बोला था, ''बुड्ढे। अब भी अगर तूने बयान नहीं बदला तो तेरी बेटी का सिर्फ़ दुपट्टा नहीं खीचेंगे, वह सब भी करेंगे जो उस रात उसके साथ नहीं कर पाए थे। समझ रहा है न तू!'' कहते हुए वे लौट गए थे।

भवानी प्रसाद निस्तेज हो गए। उन गुंडों द्वारा कुसुम का दुपट्टा खींचना और आतंकित कुसुम का बेबस निगाहों से उन्हें देखना, उनके लिए असहनीय हो गया था। जीवन में पहली बार उन्हें बेटी की आबरू का ख़याल आया था और उन्हें लगा कि अगर बदमाश अपने मक़सद में कामयाब हो गए तो... ? जीवन में उन्हें पहली बार लगा कि आदर्शों, ईमानदारी और सत्य के लिए बेटी को ख़तरे में डालना मूर्खता होगी। कभी उनकी आत्मा उन्हें सत्य का पाठ पढ़ाती तो कभी डरपोक पिता अपनी बेटी की इज़्ज़त का हवाला देता। इसी ऊहापोह में रात गुज़र गई।

पूर्व दिशा में लालिमा फूट रही थी तो किसी ने दरवाज़ा खोला। देखा, कुसुम चाय की प्याली लिए खड़ी थी। उसके चेहरे पर वही दृढ़ता और आत्मविश्वास था जो हमेशा रहता था। उसने प्याली मेज पर रखने के बाद कहा, ''पापा, चाय!''

उन्होंने बेटी की तरफ़ प्रश्नवाचक निगाहों से देखा।

''पापा...'' कुसुम ने कहा, ''जीवन में आप कभी नहीं हारे। अगर इस बार हार गए तो आप, मैं और मम्मी क्या जीते जी मर नहीं जाएँगे? जो सुषमा के साथ हुआ, वह मेरे साथ होता तो भी क्या आप बयान देने से पहले इतना विचलित होते?''

''पर बेटी...'' कुछ कहने के लिए उनके होंठ खुले तो सही लेकिन आवाज़ नहीं निकली।

''पापा, क्या हम शाख से टूटे हुए सूखे पत्ते हैं जो हवा के ज़रा तेज़ झोंके से उड़ जाएँगे!'' कुसुम कह रही थी, ''नहीं पापा, नहीं हम तो वे जड़ें हैं, जो अपनी ज़मीन में बहुत गहरे तक धँसी हुई हैं, तेज़ हवा तो क्या भयंकर तूफ़ान भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।''

भवानी प्रसाद को लगा कि जैसे उनमें एक नई शक्ति का संचार हो रहा है। उन्हें महसूस हुआ कि बेटियाँ पिता को कमज़ोर नहीं बनातीं अपितु वे तो शक्ति का वह अजस्र स्रोत हैं जो पूरे परिवार को गरिमा से भर देता है।

राजेंद्र कुमार

'सामाजिक की मृत्यु' का यह समय

बुनियादी सवाल यह है कि कोई भी आलोचक जब किसी कृति या कृतिकार से मुख़ातिब होता है, तो क्या उसकी नज़र में कृति या कृतिकार की कोई सर्वथा निरपेक्ष या स्वायत्त सत्ता होती है? वास्तविकता यह है कि जिस समय और जिस समाज में कोई कृति संभव होती है या कोई कृतिकार रचनारत होता है, उस समय और उस समय के समाज से जैसा और जितना संबंध कृति या कृतिकार का होता है; आलोचक को भी अनुभव करना होता है कि उस समय और उस समाज के साथ उसका ख़ुद का कैसा और कितना संबंध बन रहा है। आलोचक की प्रामाणिकता इसमें है कि वह इस 'संबंध-भाव' को उसके उपर्युक्त 'द्विपक्षीय रूप' में उद्घाटित करे।

विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि हमारे अपने पारंपरिक काव्यशास्त्र में भी भावक या ग्रहीता के लिए जो अभिधान चुना गया, वह 'व्यक्ति' नहीं 'सामाजिक' ही है; यह जानते हुए भी कि भावक/ग्रहीता, पाठक या श्रोता (या दृश्यकाव्य के संदर्भ में 'दर्शक') के रूप में निश्चय ही एक वैयक्तिक अस्तित्व भी रखता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि आलोचक भी सबसे पहले एक 'भावक' ही होता है, यानी उससे भी अपेक्षित है कि वह अपनी वैयक्तिकता के बावजूद 'सामाजिक' हो। यह 'सामाजिक' होना भी वस्तुतः आलोचक में उसी भाव की अनिवार्यता का संकेतक है जिसे मैंने ऊपर 'संबंध-भाव' का नाम दिया है।

हमारे साहित्य-चिंतन में आज जो उत्तर-आधुनिक विमर्श चल रहे हैं, उन्होंने नितांत मौलिक सार पर महज़ एक 'पाठ' मानकर विभिन्न ज्ञानात्मक अनुशासनों के साथ साहित्यिक रचना का जो अभेद स्थापित किया है, कुछ तथाकथित विद्वान कह सकते हैं कि वह भी 'संबंध-भाव' का ही एक रूप है। लेकिन यह कैसा 'संबंध-भाव' है जो, जिन अनुशासनों के बीच अभेद का पाठ पढ़ाता है उन्हीं के अंत की घोषणाएँ करता रहता है? 'विचारधारा का अंत', 'इतिहास का अंत' आदि के मुहावरे पश्चिम के रास्ते से आकर हमारे चिंतन का रास्ता इस तरह छेक लेते हैं कि हमारी नज़र के सामने जिस चीज़ का वास्तव में अंत हो रहा है, उसे

जाने-माने आलोचक राजेंद्र कुमार की आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी के प्रोफ़ेसर पद से सेवानिवृत्त हैं। संपर्क : 12-बी/1, बंद रोड, एलनगंज, इलाहाबाद-211002, फ़ोन : 0532-2466529

देखने के क़ाबिल हम नहीं रह जाते। नक़ली 'अंतों' के आगे 'असली अंत' का सवाल ओझल होता जा रहा है। भारतीय चिंतकों में कई स्वनामधन्य, 'उत्तर-आधुनिक' होकर धन्य होने के लिए अपने समय को, विचारधारा के अंत या इतिहास के अंत का समय घोषित करने में लगे हैं। एक समय था जब हम आधुनिक हो रहे थे और औपनिवेशक संस्कारों वाली मनीषा हमें यह मान लेने को बाध्य करती थी कि हम भारतीयों के पास आत्मगौरव अनुभव करने लायक़ सुदूर अतीत तो है लेकिन हमारा कोई इतिहास नहीं है, हम एक इतिहासहीन समाज हैं। आज का जो नवसाम्राज्यवादी चिंतन है, वह चाहता है कि 'इतिहास के अंत' को हम अपना सत्य मान लें। औपनिवेशिक साम्राज्यवाद से लेकर आज के आर्थिक साम्राज्यवाद तक की यह यात्रा 'इतिहास-हीनता' को भारतीय समाज का सत्य मनवाने से शुरू हुई थी और आज 'इतिहास का अंत' मनवा लेने तक की मंज़िल पर आ पहुँची है। इस यात्रा को विकास-यात्रा बताया जा रहा है। जो असल में हमारे विकास के अवरोध-बिंदु हैं, उन्हें ही विकास के नए पड़ावों के रूप में स्वीकार्य बनाने का षड्यंत्र रचने में पूरा तंत्र लगा है। हमारे लिए, सच पूछिए तो सवाल न 'विचारधारा के अंत' का है और न 'इतिहास के अंत' का। हमारे लिए वास्तविक सवाल 'सामाजिकता के अंत' का है। हिंदी आलोचना के वर्तमान संकट का संबंध भी इसी सवाल से है। एक आलोचक के रूप में मैनेजर पांडेय का यह पर्यवेक्षण कि "पूँजीवाद का वर्तमान दौर सचमुच 'सामाजिक की मृत्यु' का समय है" स्थिति की गंभीरता की ओर इशारा करता है।

वर्तमान हिंदी आलोचना की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि वह साहित्य में रुचि रखने वाले कुछ ऐसे मध्यवर्गीय बौद्धिकों का उपक्रम बनती जा रही है जो समाज पर अपनी विद्वता-ज्ञानवानता और साहित्य-चिंता की धाक तो जमाना चाहते हैं, लेकिन समाज के जन-सामान्य के अपने वास्तविक असंतोषों-आकांक्षाओं और संघर्षों में संवेदनात्मक स्तर पर सहभागी होने का मर्म नहीं जान पाते। एक आलोचक जब साहित्य से संवाद कर रहा होता है तो इसकी सार्थकता इस बात में होती है कि वह उस समाज से भी संवाद कर रहा हो, जिसमें संबंधित साहित्य रचा जाता है। आलोचना इसी रूप में अपनी सामाजिकता अर्जित करती है। यह सामाजिकता आलोचना के मूल्य के रूप में पहचानी जा सके, इस प्रयास में मैनेजर पांडेय की पुस्तक *आलोचना की सामाजिकता* हमारा विशेष सहयोग करती है। यहाँ आगे की चर्चा हम इसी पुस्तक के कुछ निबंधों के आधार पर करेंगे।

आलोचना की सामाजिकता के प्रश्न को केवल एक साहित्यिक प्रश्न के रूप में सीमाबद्ध करके नहीं देखा जा सकता है। आवश्यक है कि इस प्रश्न को विचार में लाते वक़्त, हम अपने समाज की वर्गीय संरचना पर भी नज़र रखें और आर्थिक विकास की जो व्यवस्थागत संकल्पनाएँ हैं, उन पर भी। आलोचक अपना परिप्रेक्ष्य निर्धारण करने में यदि इन दोनों बिंदुओं के महत्त्व को समझ ले तो मैनेजर पांडेय से सहमत होते क़तई देर नहीं लगेगी कि "आलोचना की सामाजिकता की चिंता असल में पूँजीवाद द्वारा प्रकृति और संस्कृति के निजीकरण के प्रयत्न के विरुद्ध प्रतिरोध की चिंता से जुड़ी हुई है।" (भूमिका)

हमारी आँखों के सामने कैसा समाज रचा जा रहा है, कैसा साहित्य रचा जा रहा है या साहित्य में कैसा समाज रचा जा रहा है, यह सब अविच्छिन्नतया आलोचना में आना चाहिए। यह ठीक है कि आलोचक को अपनी दृष्टि खुली रखनी चाहिए, लेकिन खुलेपन का अर्थ न तो अराजकता है, न नंगापन। आलोचना में खुलेपन की भी एक नैतिकता तो होनी ही चाहिए। उसी से तय होगा कि हम समाज में कैसी रचना के पक्षधर हैं और रचना में कैसे समाज के। साहित्य में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने लिए 'स्वतंत्र-चेता' होने के अधिकार को इस तरह सुरक्षित रखना

चाहते हैं कि नैतिकता-अनैतिकता के द्वंद्व का कोई छूत उन्हें न लगने पाए। ऐसे स्वतंत्र-चेताओं को मैनेजर पांडेय इस वस्तु-सत्य से मुख़ातिब करते हैं : ''हिंदी में या दुनिया भर में कोई ऐसा बड़ा आलोचक शायद ही मिले, जो साहित्य में नहीं, अपने समाज के भी नैतिक प्रश्नों से मुँह मोड़कर सार्थक आलोचना लिख पाया हो।'' ('आलोचना का समाज')

रचनाकार की स्वतंत्रता या अपने समय की बौद्धिकता और बौद्धिक की स्वतंत्रता आदि का महत्त्व मैनेजर पांडेय भी स्वीकारते हैं लेकिन पथ यहाँ से अलग होता है—'सवाल यह है कि कैसी बौद्धिकता और साथ ही यह भी कि कैसी स्वतंत्रता?' ''ज़ाहिर है, अपनी सेवा में लगी बौद्धिकता नहीं, बल्कि अपने समाज के वर्चस्ववादी विमर्श की काल्पनिक सहमति के छद्म की निर्मम आलोचना करने वाली बौद्धिकता।...उसमें अपने समाज, संस्कृति और साहित्य के प्रति गहरी जिज्ञासा और ऐसी प्रश्नात्मकता होती है, जिसकी पहुँच के बाहर न परंपरा की स्मृति होती है, न वर्तमान का बोध और न भविष्य की चिंता। उस बौद्धिकता का लक्ष्य मनुष्य की स्वाधीनता है, मनुष्य की अमूर्त अवधारणा की दार्शनिक स्वतंत्रता नहीं, समाज में पराधीनता के शिकार मनुष्यों की सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता।'' ('आलोचना का समाज')

हिंदी के कुछ आधुनिकतावादियों ने आधुनिकता-बोध की व्यक्तिवादी परिभाषाएँ करते हुए उनकी अर्थवत्ता व्यक्ति के 'स्वचेतन' होते जाने की प्रक्रिया में मानी थी। उचित ही है कि मैनेजर पांडेय हिंदी साहित्य की आधुनिकता के केंद्र में 'स्वाधीनता की चेतना' को देखते हैं और यह 'स्वाधीनता की चेतना' व्यक्ति की 'स्वचेतना' मात्र का पर्याय नहीं है। आधुनिक होने की दिशा में 'स्वाधीनता की चेतना' को मैनेजर पांडेय क्रमशः दो संदर्भों में चिह्नित करते हैं : पहला, राजनीतिक संदर्भ, जिसका लक्ष्य था उपनिवेशवाद से मुक्ति और दूसरा, सामाजिक संदर्भ, जिसमें किसानों, दलितों और स्त्रियों की मुक्ति के संघर्षों के नए अध्याय खुलते हैं। ये दोनों ही संदर्भ इसलिए भी रेखांकित किए जाने चाहिए कि इनसे आलोचनात्मक चेतना के निर्माण की इस बुनियादी शर्त पर प्रकाश पड़ता है : ''ज्ञान का विकास केवल एकांत साधना से नहीं होता, सामाजिक आंदोलनों से भी होता है।'' और ''सामाजिक आंदोलनों से उपजा ज्ञान एकांत साधना से अर्जित ज्ञान की तुलना में अधिक ऊर्जावान और दीर्घगामी होता है।'' ('आलोचना की राजनीति')

इधर देखा जा रहा है कि स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श आदि को अस्मिताओं के विमर्श के रूप में उभारने के प्रयत्न हो रहे हैं। तब, अनदेखा न किया जाना चाहिए कि इन विमर्शों के भीतर भी एक राजनीति चल रही है। आलोचक के लिए ज़रूरी है कि वह इन विमर्शों के भीतर की राजनीति को भी विवेचित करें। विचार-धारात्मक प्रयोजन की दृष्टि से, मैनेजर पांडेय का यह निरीक्षण ठीक है कि आलोचना के दो रूप सामने हैं—'वर्चस्ववादी आलोचना' और 'मुक्तिकामी आलोचना'। लेकिन कभी-कभी मुक्तिकामी आलोचना में वर्चस्ववादी आलोचना किस तरह वेश बदलकर अपने लिए स्थान बनाती है, यह हम अस्मितावादी विमर्शों में देख सकते हैं। अच्छा होता, मैनेजर पांडेय ने 'आलोचना की राजनीति' पर विचार करते हुए इस तथ्य पर भी नज़र दौड़ाई होती।

रचना में राजनीतिक या विचारधारात्मक आशयों की खोज पर कुछ साहित्य-चिंतक यह कहकर उँगली उठाते हैं कि कोई भी साहित्यिक रचना मूलतः एक भाषिक पदार्थ है और भाषिक पदार्थ को राजनीतिक पदार्थ के रूप में अवकृत करके देखना रचना की वस्तुगत सत्ता के प्रति अन्याय है। लेकिन क्या यह अलग से बताने की ज़रूरत है कि भाषा का कर्मक्षेत्र केवल साहित्य नहीं है? भाषा का कर्मक्षेत्र हमारा समूचा

सामाजिक जीवन है और आज अगर हमारे सामाजिक जीवन का कोई कोना राजनीति से अछूता नहीं है तो भाषा भी कैसे अछूती रह सकती है। यह ज़रूर है कि राजनीति और भाषा का कोई भी संबंध इकहरा संबंध नहीं है। 'राजनीति की भाषा' शीर्षक निबंध में मैनेजर पांडेय आगाह करते हैं : ''राजनीति के अनेक रूप और प्रकार हैं, इसलिए भाषा से राजनीति के संबंध भी कई तरह के हैं। एक, राजनीति भाषा को नए शब्द देती है, शब्द को कर्म से जोड़ती है, उसके अर्थ-गौरव को बढ़ाती है; दूसरी, राजनीति जान-बूझकर भाषा को भ्रष्ट करती है। पहली राजनीति जन, जनतंत्र, स्वतंत्रता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद जैसे शब्दों के अर्थ की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करती है। दूसरी राजनीति इन शब्दों को अपनी सुरक्षा का साधन बनाकर इन्हें ख़ाली और खोखले शब्द बनाती रहती है। पहली राजनीति जनता की है, दूसरी शासक वर्ग की।'' ज़ाहिर है, आलोचक को अगर राजनीति के इन दोनों रूपों की समझ नहीं है तो उसका भाषा-विवेक भी संदिग्ध रहेगा। भाषा अपनी साहित्यिकता के फ़रेब में उसे कब कहाँ उलझा लेगी, कहा नहीं जा सकता। किसी राज्य के संविधान की भाषा उसके नागरिकों को एक सम्मोहक भ्रम में रखने में अकसर किस तरह कामयाब हो जाती है, इसका पता हमारे एक कवि को लगा तो उसने कहा था, ''संविधान की धाराएँ/नाराज़ आदमी की परछाईं को/देश के नक़्शे में/ बदल देती हैं!'' साहित्य के रचना-विधान की भाषा पाठकों को कितना भ्रम की ओर ले जा रही है और कितना सत्य की ओर, इसका पता लगाना आलोचक का काम है और यह काम राजनीति से बचाव का दावा करके नहीं, बल्कि राजनीति की वैज्ञानिक समझदारी विकसित करके ही किया जा सकता है। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय की पुस्तक में संकलित 'भाषा की राजनीति' और 'भाषा की रात में मनुष्य' शीर्षक निबंध विशेष पठनीय हैं।

''भाषा में शब्द बहुत कुछ समाज में व्यक्ति की तरह होते हैं''—यह सूत्र कई अन्य निबंधों ('काव्य-भाषा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल', 'कलावाद का खंडन और लोकमंगल की स्थापना' तथा 'उपन्यास और यथार्थ-चेतना' आदि) से भी व्याख्यायित होता है। समाज में जिस तरह कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन पर रहीम की उक्ति लागू होती है—'टेढ़ो-टेढ़ो जाय'; इसी तरह भाषा में कुछ शब्द अपनी सीधी चाल छोड़कर टेढ़े चलते हैं और उनकी इस टेढ़ी चाल को लक्षणा-व्यंजना के नाम पर सराहना मिलती है। मैनेजर पांडेय आचार्य शुक्ल के काव्य-भाषा संबंधी विचारों के हवाले से, लक्षणा-व्यंजना के असामाजिक उपयोग से बेपरवाह रहने की विडंबना को उद्घाटित करते हैं : ''सब जानते हैं कि पाखंडी के लिए दुविधा की भाषा सुविधाजनक होती है, इसीलिए जब समाज में पाखंड का प्रचार होता है, तब कविता में व्यंजना का प्रसार होता है।'' याद आता है कि डॉ. नित्यानंद तिवारी ने भी बहुत पहले एक निबंध लिखा था 'कथानक का आग्रह'। उसमें भाषा की राजनीति के सवाल को रचना की पक्षधरता के सवाल से जोड़ा गया था। पक्षधरता के प्रसंग में नित्यानंद जी ने सलाह दी थी कि आलोचक को, वास्तविकता के प्रति लेखक के सलूक का स्वरूप केवल उसकी संवेदना के स्तर पर ही नहीं, भाषा के स्तर पर भी पहचानना चाहिए। अनेकार्थकता या अर्थ की अनिश्चयात्मकता में भाषा का सौंदर्य मानने वाले कलावादियों के बरक्स नित्यानंद जी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा था : ''एक अर्थ वाली बोली के लिए वास्तविकता असुविधाजनक और सार्थकता का स्रोत है, अनेक अर्थ वाली बोली के लिए वह सुविधा और सफलता का रहस्यगर्भित उपकरण।'' इस पर्यवेक्षण की संगति में रखकर देखें तो मैनेजर पांडेय का यह कथन और अधिक पुष्ट होगा कि ''पाखंडी के लिए दुविधा की भाषा सुविधाजनक होती है।''

मैनेजर पांडेय ने अपने एक निबंध 'उपन्यास और लोकतंत्र' में लिखा है : ''उपन्यास और लोकतंत्र के संबंध पर विचार करते समय यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि आधुनिक काल में दोनों का जन्म लगभग एक साथ हुआ है।'' यह बात आलोचना और लोकतंत्र के संबंध पर भी लागू होती है। आलोचना और लोकतंत्र का जन्म भी आधुनिक काल में एक साथ ही (यहाँ 'लगभग' लगाने की ज़रूरत नहीं है) हुआ। अगर यह सच है कि कोई लोकतंत्र ऊर्ध्वाधर श्रेणीक्रम को मानने वाली किसी सामाजिक-संरचना को बनाए रखते हुए नहीं चल सकता तो, आलोचना का सच भी यह है कि वह किसी श्रेष्ठता-ग्रंथि से परिचालित निर्णयात्मकता को बनाए रखते हुए नहीं चल सकती। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में प्राय: अकादमिक आलोचना और सर्जनात्मक आलोचना का जो विवाद चलता है, वह आलोचना के अपने सच के सर्वथा विरुद्ध है। इस विवाद को मैनेजर पांडेय सिरे से ख़ारिज करके ठीक ही कहते हैं कि सवाल यह नहीं है कि कौन-सी आलोचना अकादमिक है और कौन-सी सर्जनात्मक। सवाल को सही रूप में उठाना है तो यों उठाइए कि 'सार्थक आलोचना' और 'निरर्थक आलोचना' की पहचान की तमीज़ का पता चले। आलोचना की 'अकादमिक' और 'सर्जनात्मक' वाली पहचानें हिंदी आलोचना को इस सत्य का अभिज्ञान नहीं होने देतीं कि ''साहित्य के स्वराज्य में अतीत के नागरिक भी उतने ही सक्रिय रहते हैं जितने वर्तमान के!'' सर्जनात्मक आलोचना के नाम पर जो एक नए प्रकार का 'रीतिवाद' चल पड़ा है, उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस 'रीतिवाद' की क़लई मैनेजर पांडेय यों खोलते हैं : ''जबसे हिंदी में सर्जनात्मक आलोचना का नारा प्रचलित हुआ है तबसे हिंदी आलोचना में समकालीनता का पूर्वाग्रह इतना बढ़ा हुआ है कि कबीर, सूर, तुलसी और मीरा की कौन कहे, प्रेमचंद और निराला पर लिखी आलोचना भी अकादमिक मान ली गई है। केवल समकालीन रचनाकारों पर लिखी आलोचना या रचनाकारों द्वारा दूसरे रचनाकारों पर लिखी आलोचना ही सर्जनात्मक रह गई है।'' ('आलोचना : सार्थक और निरर्थक')

आलोचक का काम सिर्फ़ इतने से ही संपन्न नहीं होता कि वह किसी रचना का विवेचन करके रह जाए। सार्थक आलोचना में, सच पूछिए तो समूची आलोचना-परंपरा की भी आलोचना होती चलती है। सार्थक आलोचना के इस विवेक से उत्प्रेरित होना ही मैनेजर पांडेय के लिए संभव बनाता है कि वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल का भी आलोचनात्मक साक्षात्कार करते हैं और नामवर सिंह का भी; 'हिंदी की पहली आधुनिक कविता' की खोज में भी प्रवृत्त होते हैं और 'आज का भारतीय समाज और युवा पीढ़ी की रचनाशीलता' के संबंधों की खोज में भी। 'कलावाद का खंडन और लोकमंगल की स्थापना' शीर्षक निबंध में शुक्ल जी का श्रेय वे स्वीकार करते हैं : ''रीतिवाद, रहस्यवाद और कलावाद का इतना बड़ा विरोधी हिंदी में कोई दूसरा नहीं।'' लेकिन जहाँ शुक्ल जी की सीमा पहचानने का अवसर आता है, वहाँ वे बेहिचक यह भी बताते हैं कि शुक्ल जी की 'लोक-चेतना' की व्याप्ति से क्या-क्या बाहर रह गया। ''आचार्य शुक्ल की लोक-चेतना में अत्याचारी और विलासी सामंतों के लिए पर्याप्त घृणा है और किसानों से सहानुभूति, शोषक और सूदख़ोर महाजनों और महाजनी सभ्यता के विरुद्ध काफ़ी क्रोध है, लेकिन मज़दूरों से सहानुभूति नहीं।'' शुक्ल जी की 'लोक-चेतना' के इस अधूरेपन का कारण बताते हुए मैनेजर पांडेय लिखते हैं : ''उनकी विश्व-दृष्टि में असंगति और विश्व-दृष्टि से काव्य-दृष्टि के संबंध में असंगति एक तो वर्तमान के बोध पर अतीत के बोझ और दूसरे, समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे की विचारधारात्मक परिणतियों के बीच संबंध की अधूरी पहचान के कारण है।''

मैनेजर पांडेय नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि पर लिखें तो कुछ लोग पहले से यह मानकर चलेंगे कि सलूक कुछ वैसा ही होगा जैसा नामवर सिंह का प्राय: रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि पर लिखते समय रहा। लेकिन *आलोचना की सामाजिकता* पुस्तक में 1977 का लिखा 'नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि' शीर्षक जो लेख संकलित है, वह पर्याप्त संतुलित है। आलोचना के क्षेत्र में नामवर जी के योगदान की अकुंठ स्वीकृति की दृष्टि से यह निबंध विशेष पठनीय है। लेकिन अकुंठ स्वीकृति का अर्थ यह नहीं है कि नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि को उजागर करने मैनेजर जी चलें और ख़ुद अपनी आलोचना-दृष्टि को एकदम कहीं नेपथ्य में छोड़ आएँ। नामवर जी अपनी पूरी विकास-यात्रा में किन पड़ावों पर क्या कहकर अकसर भूल जाते हैं, यह मैनेजर पांडेय याद दिलाते हैं। मसलन, 'छायावाद' वाली पुस्तक में नामवर सिंह ने भाव और रूप की पूर्ण संगति में कविता का सौंदर्य देखा, लेकिन 'कविता के नए प्रतिमान' में कहा कि "कथ्य-कथन के बीच अंतर्निहित तनाव से कविता मूल्यवान होती है।" मैनेजर पांडेय इस पर सटीक व्यंग्य करते हैं : "तादात्म्य से तनाव की यह वैचारिक यात्रा तनावपूर्ण तो है ही, विडंबनापूर्ण भी है।" *कविता के नए प्रतिमान* पुस्तक को लक्ष्य करके मैनेजर पांडेय कहते हैं, "वास्तव में बौद्धिक क्षेत्र में दुश्मन के मज़बूत और मुश्किल मोर्चे पर विजय हासिल करने के लिए दुश्मन के ही हथियारों से लड़ना कितना ख़तरनाक और आत्मघाती हो सकता है...यह *कविता के नए प्रतिमान* से सीखा जा सकता है।"

भूमंडलीकरण के दौर में हमारी क्षेत्रीय बोलियाँ और उनका साहित्य आज जिस संकट में है, वह केवल बोली-विलोप का संकट नहीं है, बल्कि व्यापक रूप में देखें तो वह साधारण जन के स्वत्व-विलोप का संकट है। भक्ति-काल के काव्य में जो लोक-धर्मिता के लिए सर्वाधिक अवकाश बनाने वाला तथ्य है, वह यह कि हमारा जन-समाज अपनी बोलियों में अपने को स्वतंत्रतया अभिव्यक्त कर रहा था। लोकप्रियता और उदात्तता, दोनों को साथ-साथ संभव बनाने में कैसी सफलता मिलती है। यदि जनता को अपनी-अपनी बोलियों में ख़ुद को व्यक्त करने के निर्बाध अवसर मिलते रहें, यह हम भक्त-कवियों से सीख सकते हैं। मैनेजर पांडेय 'भोजपुरी समाज और साहित्य' शीर्षक निबंध लिखते हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि उन्हें अपने एक बड़े जन-समुदाय के स्वत्व और उसकी रचनाशीलता की पहचान की चिंता है। यह भी देखा जा रहा है कि उपभोक्तावादी और बाज़ारवादी मानसिकता के फलने-फूलने के इन दिनों में भोजपुरी भाषा उन तथा-कथित लोकगायकों के हवाले है जिन्हें भोजपुरी समाज के स्वत्व की चिंता के बजाय अपने 'संस्कृति-उद्योग' की चिंता है। ऐसे में मैनेजर पांडेय भारतीय नवजागरण में भोजपुरी जनता के योगदान की याद दिलाकर लोक-भाषा और



लोक-मन की रक्षा की बात संघर्षशील होने की प्रेरणा पाने के व्यापक उद्देश्य से करते हैं, जो उपर्युक्त 'सांस्कृतिक-उद्योग' चलाने वालों के उद्देश्य से सर्वथा अलग है, बल्कि उसका प्रतिरोधपरक विकल्प है क्योंकि ''लोकमन, लोक-संस्कृति और लोक भाषाओं में अपने संघर्ष की स्मृति को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति होती है।''

समय-समय पर हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संकट, इतिहास के वस्तुपरक लेखन में सांप्रदायिक शक्तियों के हस्तक्षेप, श्लीलता-अश्लीलता, स्त्री-चेतना और दलित-चेतना आदि को लेकर जो विवाद होते रहे हैं, उनकी समाजशास्त्रीय और राजनीतिक-सांस्कृतिक पड़ताल करने में मैनेजर पांडेय की गंभीर रुचि रही है। इस रुचि ने उनकी आलोचना की सामाजिकता को अपेक्षित विस्तार दिया है। फ़ासीवादी, बाज़ारवादी,उपभोक्तावादी शक्तियाँ जिस अमानवीकरण की प्रक्रिया को गति दे रही हैं, उसका प्रतिरोध करने में ही साहित्य की अर्थवत्ता है और इस अर्थवत्ता का स्वरूप स्पष्ट करना आलोचक का दायित्व है। इस दायित्व का सम्यक् निर्वाह तभी संभव है जब आलोचक की निगाह रचनाकारों की नई-पुरानी विविध पीढ़ियों पर भी हो और रचना की नई-पुरानी विविध विधाओं एवं कला-रूपों पर भी। मैनेजर पांडेय के पास आलोचक की ऐसी निगाह है। इसका प्रमाण 'आज का भारतीय समाज और युवा पीढ़ी की रचनाशीलता', 'नागार्जुन और नई पीढ़ी', 'नागार्जुन : काव्य की भूमि और भूमिका का विस्तार', 'परंपरा और नई चेतना की एकता के कवि : शंकर' तथा 'प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचंद की प्रासंगिकता' जैसे अनेक निबंधों में मिलता है।

मैनेजर पांडेय नागार्जुन के साथ नई पीढ़ी के रिश्ते का मर्म उद्घाटित करते हुए कहते हैं, ''नागार्जुन समाज के इतिहास के साथ-साथ जन-भावनाओं के इतिहास के कवि हैं।'' नागार्जुन की इस विशेषता को हम रचनाशीलता में पीढ़ियों के अंतराल को पाटनेवाले एक प्रतिमान के तौर पर ग्रहण कर सकते हैं। रचना में अपने समय का होने के लिए जो रचनाकार सूचनाधर्मिता के उत्सव में शामिल हैं, वे अपने समय का होने का तात्कालिक आभास भले ही करा दें, लेकिन निरंतरता के प्रतिमान पर वे नहीं टिकेंगे। इसी तरह दार्शनिकता की मुद्रा वाले रचनाकार अपनी रचना के शाश्वत होने का दंभ पाले रहें, लेकिन वे अपने समय के यथार्थ का साक्षात्कार करने में हमारी कोई सहायता नहीं कर सकते।

'उपन्यास का लोकतंत्र' वाला खंड विवेचन में एकसूत्रता के लिहाज़ से पुस्तक का सबसे व्यवस्थित खंड है। उपन्यास को आलोचक ने साहित्य की विधाओं में सर्वाधिक लोकतंत्र विधा माना है क्योंकि ''उपन्यास में सामाजिक चेतना की व्यापकता और मनुष्य की परिभाषा की समग्रता दूसरे साहित्य-रूपों से अधिक होती है।'' ('उपन्यास और यथार्थ-चेतना') अन्य साहित्य-रूपों से उपन्यास को विशिष्ट मानते हुए मिलान कुंडेरा के अभी हाल में प्रकाशित द *कर्टेन : एन एस्से इन सेवन पार्ट्स* में उपन्यास की लोकतांत्रिकता को प्रमाणित करने वाली विशिष्टता है। 'मनुष्य की परिभाषा की समग्रता' वाली बात इसमें भी है। लेकिन मैनेजर पांडेय की उपन्यास-दृष्टि फिर भी मिलान कुंडेरा की दृष्टि से शायद ही एकात्म हो सके। कुंडेरा अपनी परिभाषा में उपन्यास को किसी भी राष्ट्रीय या भाषिक सीमाओं का अतिक्रमित करनेवाली चेतना से जोड़ते हैं। अपने मत के पक्ष में कुंडेरा का तर्क है कि दोस्तोएवस्की को रूसियों से ज़्यादा सही तरीक़े से फ्रांसीसियों ने समझा, अंग्रेज़ी के इब्सन को आयरिश लोगों ने, और हेमिंग्वे तथा फ़ाकनर को भी फ्रांसीसियों ने ज़्यादा सही रूप में समझा। मैनेजर पांडेय हिंदी आलोचक के रूप में बेहतर जानते हैं कि हमारे हिंदी के प्रेमचंद को ठीक-ठीक समझने का उपक्रम अभी अगर भारतीय भाषाओं में अधूरा पड़ा हुआ है, तो विदेशी भाषाओं में भी प्रेमचंद के बारे में समझ

की स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं है। मैनेजर पांडेय देश-विशेष के इतिहास-भूगोल, सबका अतिक्रमण करने में ही तथाकथित समग्रता की चेतना की सिद्धि नहीं मानते। वे देशज यथार्थ का उपन्यास से रिश्ता जुड़ा रहना सार्थक मानते हैं। इसीलिए उपन्यास की भारतीयता का प्रश्न केंद्रीय रूप से उठाते हैं। उपन्यास की भारतीयता पर विचार करते हुए उनकी धारणा यह बनती है कि "भारतीय उपन्यास का स्वतंत्र रूप तब विकसित हुआ जब उपन्यास-रचना के केंद्र में भारतीय उपन्यास आया।" वे इस तथ्य की ओर बलपूर्वक ध्यान आकृष्ट करते हैं : "किसान भारतीय चेतना का मूर्त रूप और औपनिवेशिक व्यवस्था का सर्वाधिक शोषित और उत्पीड़ित वर्ग था। उस समय भारतीय किसान एक ओर साम्राज्यवादी शोषण का शिकार था तो दूसरी ओर सामंती लूट का। किसान-जीवन से उपन्यास के जुड़ने का अर्थ था, भारतीय समाज की समग्रता के केंद्र से जुड़कर उसकी इतिहास-प्रक्रिया में सक्रिय विभिन्न शक्तियों के संबंधों को पहचानना।"

भारतीयता को इस अर्थ में उपन्यास विधा ने सबसे पहले तब आत्मसात किया जब ओड़िया के कथाकार फ़क़ीर मोहन सेनापति का उपन्यास *छमाड़ आठ गुंठ* 1897 में प्रकाशित हुआ। हिंदी में प्रेमचंद ने आकर भारतीय उपन्यास की अवधारणा को अपने लेखन से सजीव किया। प्रेमचंद के यहाँ मध्यवर्गीय चरित्र नदारद हों, ऐसा नहीं है। लेकिन "केंद्रीय स्थिति किसान जनता की ही है।" किसान ही उनके उपन्यासों का नायक है, लेकिन उसके नायकत्व को वे किसी भी तरह की महानता से अतिरंजित नहीं करते बल्कि अपने सामाजिक जीवन के यथार्थ में वह जैसा है, उसका समग्रता में वैसा ही चित्रण करना उनको अभीष्ट है। क्योंकि "प्रेमचंद महान चरित्रों के निर्माण से अधिक महत्त्व समाज की विकास-प्रक्रिया और ऐतिहासिक संघर्ष के चरित्रों को देते हैं।" ('भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद') इसीलिए वे पाठकों की सामाजिक चेतना और इतिहास-विवेक को प्रभावित करने में आज भी सफल हैं।

आलोचना की सामाजिकता निरा अमूर्त प्रत्यय बनकर न रह जाए, इसलिए आलोचना को अपेक्षित है कि उसे ऐसे आलोचक मिलें जो रचनाशीलता के उस रूप पर ध्यान केंद्रित करें जिसमें अपने समाज की आलोचना का ईमानदार साहस हो।

चर्चित निबंध-संग्रह :

आलोचना की सामाजिकता : **मैनेजर पांडेय; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2005; 350 रुपए**

हरदयाल

सूक्ष्म गंभीर चिंतन

साहित्य का अध्यात्म नंदकिशोर आचार्य के व्याख्यानों, लेखों और समीक्षाओं का संग्रह है। संगृहीत रचनाओं में विधागत और विषयगत विविधता है। विधा के अनुसार संग्रह की रचनाओं का संबंध कविता, नाटक और रंगमंच तथा कथा-साहित्य से है। विषयगत दृष्टि से संग्रह की रचनाओं का संबंध साहित्यिक सिद्धांतों, नए-पुराने साहित्यकारों की रचनाओं, प्रमुख साहित्यकारों की केंद्रीय सोच तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों आदि से है। लेकिन अंतर्वस्तु के स्तर पर इस संग्रह में एकान्विति है। इस एकान्विति का आधार लेखक की जीवन-दृष्टि, उसका

चिंतन और सोच, उसका अध्ययन और विश्लेषण तथा वे मूल्य हैं, जिसे वह किसी साहित्यिक या कलाकृति में खोजता है। जैसा कि लेखक ने अपने इस संग्रह का शीर्षक रखा है, इस एकान्विति की टेक 'अध्यात्म' है।

'अध्यात्म' से लेखक का क्या तात्पर्य है, इसे उसने इस संग्रह में अनेक बार स्पष्ट किया है। 'नई आध्यात्मिकता की तलाश' शीर्षक लेख में उसने लिखा है : ''कविता—बल्कि कला मात्र—अपने आप में एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है—चाहे उसकी विषय-वस्तु कुछ भी हो।...कविता और अन्य कोई भी कला—मूलतः अनुभूति पर आधारित होती है। माध्यम की भिन्नता के बावजूद अनुभूति की प्रक्रिया सभी कलाओं का केंद्रीय आधार है। अनुभूति का संप्रेषण भी पाठक या गृहीता के लिए अनुभूति की प्रक्रिया से गुज़रना ही है।

अनुभूति की प्रक्रिया—चाहे उसका विषय या आलंबन कुछ भी हो—अपने आप में एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। अनुभूति का अर्थ है विषयी और विषय में अभेद, ज्ञाता और ज्ञेय का एकत्व—एक क़दम आगे बढ़कर कहें तो आत्म और अन्य के अद्वैत का बोध, जहाँ विषय अर्थात् अन्य, विषयी यानी 'आत्म' में रूपांतरित हो जाता है। इस अर्थ में प्रत्येक कविता अपनी रचना और संप्रेषण, दोनों प्रक्रियाओं में एक आध्यात्मिक प्रक्रिया हो जाती है।''

वे अपनी इस नई आध्यात्मिकता के प्रसंग में इलियट, आर्नाल्ड, अज्ञेय आदि की स्थापनाओं को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं : ''...इसीलिए 'जीवन की आलोचना' होने पर भी—बल्कि एक प्रकार से तो उसी के कारण—कविता आर्नाल्ड के लिए धर्म का स्थानापन्न हो जाती है। इसलिए हिंदी में अज्ञेय 'मानव केंद्रित या मानवतावादी आध्यात्मिकता' का प्रस्ताव करते हैं तो उसके अंत:सूत्र हमारी जैन और बौद्ध परंपरा से जुड़ते हैं, वहीं आर्नाल्ड की धर्म की मानवमात्र को जोड़ने वाली भूमिका से भी। मानव केंद्रित आध्यात्मिकता का वह भाव, जिसमें सृष्टि के एकत्व या अद्वैत का स्वीकार तो है और इसलिए उससे जुड़ाव में ही वास्तविक मुक्ति का बोध भी, लेकिन इस प्रक्रिया में मानव-अस्तित्व का महत्त्व बना रहता है—ईश्वर जैसी किसी अधिप्राकृतिक सत्ता को स्वीकार करने के बावजूद मनुष्य के भौतिक या दैहिक अस्तित्व की सार्थकता बनी रहती है और ईश्वर से उसका संबंध मात्र उसके लिए ही नहीं, स्वयं ईश्वर के लिए (भी) केंद्रीय महत्त्व का हो जाता है।''

आचार्य आध्यात्मिकता के इसी संदर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र की रसानुभूति की ब्रह्मानंद सहोदरता की स्थापना को भी सामने रखते हैं। स्पष्ट है कि वे साहित्य की जिस आध्यात्मिकता की बात करते हैं, वह रूढ़ या पारंपरिक आध्यात्मिकता नहीं है, वह 'नई' है और साहित्यिक या अन्य कलाकृति के अनुभव की लौकिकेतर अनुभूति की पर्याय है, ''जिस प्रकार विरह-काव्य अथवा वियोग-शृंगार भी प्रेम-काव्य ही है, उसी प्रकार जीवन का अर्थ खो देने की पीड़ा और उसे पाने की विकलता भी प्रकारांतर से धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभव ही है।''

यहाँ इस बात का उल्लेख रोचक और महत्त्वपूर्ण होगा कि नंदकिशोर आचार्य की पहली आलोचनात्मक कृति *अज्ञेय की काव्यतितीर्षा* (1970) थी। उन्होंने अज्ञेय के काव्य को ही प्रारंभ में अध्ययन के लिए क्यों चुना? इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि यह उनकी मूल प्रवृत्ति के अनुकूल था। इस अध्ययन ने उनके आलोचकीय मूल्यों और विवेचन-विश्लेषण के संस्कारों का निर्माण किया। इस दृष्टि से हिंदी के प्रायः सभी प्रमुख आलोचकों की पहली आलोचनात्मक कृतियों का अध्ययन उन आलोचकों की मूल आलोचनात्मक प्रवृत्तियों और मूल्यों के समझने में न केवल सहायक होगा अपितु उनके आलोचना-सिद्धांतों के मूल

मनोवैज्ञानिक आधारों तक पहुँचने में सहायक होगा। कल्पना कीजिए कि डॉ. रामविलास शर्मा की पहली आलोचना-पुस्तक *प्रेमचंद* (1941) न होकर *जयशंकर प्रसाद* हुई होती या डॉ. नगेंद्र की पहली आलोचनात्मक पुस्तक *सुमित्रानंदन पंत* (1938) न होकर *निराला* हुई होती तो क्या वे वही आलोचक बनते जो वे बने हैं। इसलिए नंदकिशोर आचार्य के आलोचनात्मक संस्कारों के निर्माण में अज्ञेय के लेखन-चिंतन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

उनके इस संग्रह में अज्ञेय को बार-बार उद्धृत किया गया है। उनके इस संग्रह में 'अज्ञेय की सामाजिकी' शीर्षक एक स्वतंत्र लेख है, जिसका उपशीर्षक है 'स्वाधीनता का विस्तार है सामाजिकता'। उन्होंने यह उपशीर्षक अज्ञेय की अंत:प्रक्रियाओं के संग्रह *शाश्वती* की एक टीप से लिया है, जिसकी मूल स्थापना यह है कि व्यक्ति की सामाजिकता और स्वाधीनता परस्पर विरोधी नहीं हैं। ''जितना, जिस मात्रा में, वह समाज को स्वाधीन बनाने में योगदान देता है, उतना उस मात्रा में वह स्वाधीन है।'' इस दृष्टि से इस संग्रह के कुछ लेखों के शीर्षकों को उद्धृत करना मात्र आचार्य के सोच की दिशा का स्पष्ट संकेतक होगा—'प्रेमचंद का स्वराज्य : तत्त्व-मीमांसीय व्याख्या', 'जैनेंद्र : श्रद्धा का पुनरान्वेषण', 'मुक्तिबोध की उलझन', 'निर्मल वर्मा : अकेलेपन से मुक्ति की तलाश', 'नेमिचंद्र जैन : द्वंद्वात्मकता की प्रगीतात्मकता', 'सूर : लौकिक का अध्यात्म' आदि। ये शीर्षक बड़े सटीक हैं। सटीक इसलिए कि इनमें आचार्य की मूल स्थापनाएँ निहित हैं। प्रेमचंद की ''वैयक्तिक ईश्वर की अवधारणा में विश्वास न करते हुए भी प्रेमचंद अध्यात्म में यक़ीन रखते हैं।'' अथवा ''प्रेमचंद को समतावादी या सामाजिक न्याय का समर्थक तो कहा जा सकता है, लेकिन उन्हें द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तो क्या, भौतिकवाद तक का समर्थक नहीं कहा जा सकता।''

नंदकिशोर आचार्य की सोच का केंद्र अध्यात्म ही है। वे लौकिकता की अलौकिकता को बार-बार रेखांकित करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनके चिंतन में सूक्ष्मता है, उनकी कताई बहुत महीन है। इसलिए जब वे पुस्तक विशेष की समीक्षा लिखते हैं तो उसमें विवरण-विवेचन कम होता है, सिद्धांत-चर्चा अधिक होती है। रमेशचंद्र शाह के उपन्यास *क़िस्सा ग़ुलाम* पर लिखा गया समीक्षा लेख प्रमाण के लिए देखा जा सकता है। यदि वे इस उपन्यास पर यह टिप्पणी करते हैं कि '' *क़िस्सा ग़ुलाम* सच्ची और झूठी परंपरा के संघर्ष के साथ-साथ सच्ची और झूठी आधुनिकता के संघर्ष को दर्ज करने वाला दस्तावेज़ है'' तो वे परंपरा और आधुनिकता की विस्तृत सैद्धांतिक चर्चा भी करते हैं। आधुनिकता को लेकर उनकी स्थापना है कि ''आधुनिकता ऐसी बौद्धिकता है जो किसी भी परंपरा की अच्छाई और बुराई में फ़र्क़ करते हुए उसकी आलोचना का प्रयत्न करती है। इस मनीषा की कार्य-प्रक्रिया इसलिए ही द्विस्तरीय है। एक स्तर पर वह एक मिथ्या परंपरा या रूढ़ि के विरुद्ध विद्रोह है तो उसी के साथ बदलते वक़्त अर्थात् इतिहास के लिए प्रासंगिक किसी सामाजिक समुदाय के बुनियादी मूल्यों की अभिव्यक्ति की सर्जनात्मक प्रक्रिया भी है। आधुनिकता परंपरा और इतिहास के बीच पुल का काम करती है, जिसके चलते वे एक-दूसरे के आमने-सामने होते हैं।''

स्पष्टतः नंदकिशोर आचार्य की आलोचनात्मक रुचि सिद्धांत चर्चा में अधिक है। उनकी मेधा को सिद्धांत-चर्चा और प्रत्यय-स्थापना अधिक आकर्षित करती हैं। इस संग्रह के प्रारंभिक छह लेख तो प्रधानतः सैद्धांतिक हैं। शेष व्यावहारिक आलोचना से संबद्ध लेखों में भी सिद्धांत-चर्चा और प्रत्यय-स्थापना की कोई कमी नहीं है बल्कि कुछ लेखों में व्यावहारिक आलोचना कम है, सिद्धांत-चर्चा और प्रत्यय-स्थापना अधिक है।

नंदकिशोर आचार्य सृजनात्मक क्षेत्र में कवि होने के साथ-साथ नाटककार भी हैं। इसलिए इस संग्रह में नाट्य-जगत से संबंधित तीन लेख भी हैं, जो मुख्यतः सैद्धांतिक हैं। उनकी मान्यता है कि अभिनय ही नाट्य-लेखन है। उनकी मान्यता यह भी है कि "जहाँ रंगमंच है वहाँ नाटक या आलेख की केंद्रीयता से इनकार नहीं किया जा सकता।" वे किसी भी निर्देशक को नाटक के आलेख में ऐसा परिवर्तन करने देने के पक्ष में नहीं हैं जो नाटक के मंतव्य को ही बदल दें। वे यह स्वीकार करने के लिए तैयार हैं कि नाटककार और निर्देशक के मंतव्य में सहमति न हो; ऐसी स्थिति में निर्देशक को मंचन के लिए ऐसा नाटक उठाना ही नहीं चाहिए। "नाटक में कोई संशोधन सौंदर्यशास्त्रीय ज़रूरत के तहत करना नाटक के प्रभाव में वृद्धि के लिए होता है जबकि वैचारिक कारणों से परिवर्तन नाटक के मंतव्य को अपने अनुकूल मोड़ने की कोशिश करना है।" निर्देशकों के द्वारा नाटकों के मंतव्यों में परिवर्तन के अनेक उदाहरण सामने आए हैं, जिनके परिणाम 'लिखत सुधाकर लिखिगा राहू' ही हुए हैं।

साहित्य का अध्यात्म की इस संक्षिप्त चर्चा से स्पष्ट है कि लेखक बहुअधीत है, सूक्ष्म विवेचन की क्षमता से युक्त है और प्रत्यय-स्थापन में समर्थ है। इसलिए साहित्य के गंभीर पाठकों को समीक्ष्य पुस्तक की रचनाएँ वैचारिक स्तर पर उत्तेजित भी करेंगी और उन्हें तृप्ति भी देंगी।

चर्चित पुस्तक :

साहित्य का अध्यात्म : नंदकिशोर आचार्य; सूर्य प्रकाशन मंदिर, नेहरू मार्ग (दाऊजी रोड), बीकानेर; 2006; 175 रुपए

1939 में जन्मे डॉ. हरदयाल के अब तक तीन कविता-संग्रह, दो शोध-प्रबंध, एक दर्जन आलोचना पुस्तकें, डेढ़ दर्जन संपादित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपको हिंदी अकादमी का पुरस्कार मिल चुका है। संपर्क : एच-50, पश्चिमी ज्योति नगर, लोनी रोड, दिल्ली-110094

नरेंद्र तोमर

अंदर की औरत की खोज

"पर अखिला दृढ़ थी कि अब वह अपने परिवार के हाथों और इस्तेमाल नहीं होगी। मुझे देखो मैं वह औरत हूँ जिसे तुम समझते हो, तुम जानते हो। मैं तुम्हारी बहन हूँ जिस पर तुम हैरत करते हो। इस अंक में कुछ और भी है। मेरे अंदर एक ऐसी औरत है जिसे मैंने खोज लिया है।"

अखिला या पूरा नाम लें तो अखिलंदेश्वरी। पैंतालीस साल की इंकमटैक्स क्लर्क, इतिहास-वेत्ता। अविवाहित। ढर्रे की ज़िंदगी जीने वाले इंकमटैक्स क्लर्क पिता और घोर ब्राह्मणवादी संस्कारों में रची-बसी माँ की सबसे बड़ी संतान। माँ जिसका मानना था कि "सड़कें हर तरह के ख़तरों से भरी पड़ी हैं कि वे पति नाम के मर्द के जायज़ हक़ से पहले ही उसके कौमार्य को भंग कर देंगी। इस तरह वह अपने पिता, परिवार और पूरे ब्राह्मण समाज पर कलंक लगा देगी।" दो छोटे भाइयों और बहन पद्मा की बहन अखिला जिसे पिता की अचानक मृत्यु के बाद परिवार के भरण-पोषण का बोझ उठाना पड़ जाता है और उसके अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों, तो कभी सामाजिक मर्यादाओं के नाम पर उसे उसका अपना जीवन जीने की इजाज़त नहीं देते। छोटे भाई-बहनों को पढ़ा-लिखाकर उनकी शादियाँ

कर उनके घर बसा देती है, पर वे और तो और उसकी अपनी माँ तक एक बार इसका ज़िक्र तक नहीं करती कि उसकी सबसे बड़ी बेटी की भी कुछ इच्छाएँ हैं। माँ की मृत्यु के बाद अखिला अपना तबादला बैंगलोर करा लेती है जहाँ पद्मा रहती है। पद्मा अपने परिवार के साथ उसके सरकारी फ़्लैट पर क़ब्ज़ा जमा लेती है। उसकी ज़िंदगी और भी दयनीय हो जाती है। परिवार के प्रति आरोपित प्रतिबद्धता, समर्पण और कर्तव्य से आजिज़ आकर अखिला एक लंबी यात्रा पर निकल पड़ती है—अकेली अपने नोचने-खसोटने वाली बहन और भाइयों की धमकियों और उनके विरोध के बावजूद। अपने मतलबी रिश्तेदारों से दूर जाकर वह जानना-पहचानना चाहती है उस औरत को जो कहीं दबी सोई पड़ी है।

अनीता नायर का उपन्यास *लेडीज़ कूपे* इसी औरत को खोजने की प्रक्रिया का प्रभावशाली ढंग से चित्रण करता है। दसियों साल से मानो सुप्तावस्था में पड़ी एक संपूर्ण स्त्री में विकसित होने के अंकुर उसकी एक सहकर्मी नीलोफर और बाद में एक पुरानी, पर लंबे समय से बिछुड़ी सहेली कर्पगम के साथ अचानक हुई मुलाक़ात से फूटने लगते हैं। विधवा कर्पगम अपना उदाहरण देते हुए उसे अपनी शर्तों पर जीने की सलाह देती है। इस बीच वह अपने से बहुत छोटे युवक हरी के संसर्ग में आती और शारीरिक संबंध बनाने का भी दुस्साहस करती है। पर उसके साथ विवाह के लिए सहमत होने का साहस नहीं जुटा पाती। आरोपित पूर्वाग्रहों और अपने स्वार्थी भाइयों-बहनों से मुक्ति उसे *लेडीज़ कूपे* में कन्याकुमारी तक के अपने रातभर के सफ़र के दौरान मिल पाती है और यहीं उसकी समझ में आता है स्त्री होने, अकेली स्त्री होने का अर्थ।

केवल महिलाओं के लिए आरक्षित दूसरे दर्जे के इस कूपे में उसकी मुलाक़ात और बातचीत पाँच स्त्रियों से होती है जो आयु-सामाजिक और आर्थिक स्थिति, शिक्षा-दीक्षा, पारिवारिक पृष्ठभूमि और सोच में एक-दूसरे से अलग हैं। अखिला की माँ की उम्र की एक मध्यम वर्ग की जानकी प्रभाकरन, एक लाड़ली बीवी और विवाहित बेटे की परेशान माँ जो बहुत समय बाद यह समझ पाती हैं, "मेरे जैसी औरतें बहुत नाज़ुक हो जाती हैं और उन औरतों को नीची नज़र से देखती हैं जो ताक़तवर होती और अपने दम पर जीती हैं।" दूसरी है मार्ग्रेट शांति, एक संवेदनहीन प्रिंसिपल की पत्नी और उसी के स्कूल में केमिस्ट्री टीचर। शादी के कुछ ही समय बाद मार्ग्रेट की समझ में आ जाता है, "...प्यार विचारों से तर्क को अलग कर देता है। प्यार इथाइल अल्कोहल का बहाना करता मिथाइल अल्कोहल है।" अर्थात् मदिरा का दिखावा करता विष है और तंग आकर वह उस तानाशाह को पालतू बना लेती है, "धीरे-धीरे एबी मोटा हो गया। शांत हो गया। आसान हो गया...ऐसा आदमी जिसके खाने के शौक़ ने उसे भोथरा कर दिया था। चूँकि उसकी क्षुधा पूर्ति मैं ही कर सकती थी इसलिए हर समय अब वह मेरा ही साथ खोजता... ।" मार्ग्रेट के प्रकरण में जिस तरह से रासायनिक तत्त्वों आदि का इस्तेमाल लोगों के व्यक्तित्वों का चित्रण करने के लिए किया गया है, वो बेहद दिलचस्प हैं।

एक रात के सफ़र में उस डिब्बे की एक अन्य सहयात्री हैं प्रभादेवी। संपन्न परिवार की चहेती बेटी और पति की प्यारी पत्नी जो तमाम सुख-सुविधाओं और पति के प्यार के अलावा, जीवन के ढर्रे से उकताकर कुछ और चाहती है। वह किसी दूसरे व्यक्ति को रिझाती, ललचाती है पर ऐन मौक़े पर पीछे हट जाती है। जीवन की एकरसता को तोड़ने के लिए वह तरह-तरह के उपाय करती है। और है संवेदनशील 16 वर्षीय शीला जो अपनी नानी के अंतिम कुछ दिनों में परिवारवालों की स्वार्थी लड़ाइयों को ही नहीं

देखती, बल्कि अपनी नानी के पूरे व्यक्तित्व और उनकी सोच को गहराई से समझती है और उनकी लाश का वैसा ही मेकअप कर देती है। जब सब नीचे आए तो डर के मारे चीख़ पड़े, "अरी शैतान लड़की—ये क्या किया?" शीला को पता था कि उनके ख़याल में उसने अमूम्मा को बुरी औरत बना दिया है—भड़कीली, सजी-धजी मरने को तैयार वेश्या। पर शीला जानती थी कि अमूम्मा बीमार और लाचार दिखने की अपेक्षा ऐसा दिखना बेहतर समझती।"

इन सबसे अलग है मारीकोलंतु। एक साधारण से छोटे किसान की बेटी। और उसकी असमय मृत्यु के बाद एक विधवा की बेटी और दो भाइयों की बहन। माँ गाँव के ही एक संपन्न चेट्टियर परिवार में खाना बनाने का काम करती और मारीकोलंतु परिवार की सहृदय मालकिन की चाकरी। दया करके मालकिन सुजाता अक्का उसे एक शहर के क्रिश्चियन अस्पताल में काम पर लगवा देती है। छुट्टियों में लौटकर गाँव आने पर वह मालकिन के भाई की हवस का शिकार बन जाती है और उसकी ज़िंदगी एक अँधेरी गुफा में धकिल जाती है। उस बलात्कारी से पैदा बेटे को पालती और उसके माध्यम से वह उस बलात्कारी से बदला लेने की योजनाएँ बनाती है। उसकी जाग गई यौन इच्छाएँ अपना रास्ता तलाश करती हैं।

इनमें से हरेक औरत की कहानी बेटी से पत्नी और फिर माँ और दादी-नानी बनने की यात्रा के अनुभवों को सामने लाती है। ये अनुभव अलग-अलग वर्गों और वर्णों की स्त्रियों के भिन्न-भिन्न हैं पर इन सबमें किसी न किसी रूप में किसी न किसी सीमा तक पुरुष समाज द्वारा आरोपित मर्यादाएँ और स्त्रियों की कही-अनकही दबी हुई आकांक्षाएँ दिखलाई पड़ती हैं और इनको तोड़ने की, एक स्त्री के रूप में अपने व्यक्तित्व को स्थापित करने की एक ललक भी।

परंपरा, धर्म, आदर्श और निष्ठा आदि की आड़ में निहित स्वार्थों का खेल कभी-कभी परिवारों के भीतर, निकटतम संबंधों में अधिक निष्ठुरता से खेला जाता है जिसमें किसी की भी, चाहे वह अपनी बेटी और सगी बहन ही क्यों न हो, इच्छाओं, भावनाओं और ज़रूरतों का ख़याल नहीं रखा जाता। अपने ख़ुद के अस्तित्व के संघर्ष में नाते-रिश्ते बेमानी हो जाते हैं; लोगों की संवेदनाएँ भोथरी हो जाती हैं। अखिला ने यह सब देखा है, भोगा है और अब वह अपनी पहचान किसी की बेटी, बहन, माँ या किसी की पत्नी तक के रूप में नहीं बनाना चाहती। वह स्वयं को पूर्ण करना चाहती है, वो भी अपनी शर्तों पर और यह वह करती है कन्याकुमारी पहुँचकर। वहाँ वह एक अनजान, उम्र में अपने से बहुत छोटे युवक के साथ अपनी यौन इच्छाओं को पूरा करती है। भरपूर आनंद उठाने के बावजूद कुछ रह जाता है और वह अपने एकमात्र प्रेमी हरी को याद करती और उसे फ़ोन मिलाती है...

तरह-तरह के स्त्री चरित्रों और उनके जीवन तथा आसपास की घटनाओं को बेहद रोचक ढंग से बुने गए इस उपन्यास में पहाड़ी नदी-सा प्रवाह और पारदर्शिता है। प्रवाह जहाँ पाठक को अपने साथ आगे लेता चलता है। वहीं नदी की तली में दिखने वाली चीज़ें उसे रुकने, सोचने को विवश करती हैं। चरित्रों, घटनाओं और दृश्यों का सजीव चित्रण उपन्यास को एक फ़िल्म की तरह आगे बढ़ाता और बाँधे रखता है।

दक्षिण भारत की लेखिका का यह उपन्यास नारी जीवन के उन पक्षों को उजागर करता चलता है जिन पर लिखने का साहस आज के भारत की भी और ख़ासतौर पर हिंदी की लेखिकाएँ शायद ही जुटा पाती हैं। परंतु जिस जगह जाकर अंत होता है उससे यह प्रश्न ज़रूर उठता है कि अखिला अपने भीतर की केवल उस स्त्री को खोज रही थी जो किसी भी पुरुष को रिझाकर, उकसाकर अपनी शारीरिक ज़रूरत को पूरा कर

सकती है ? आर्थिक रूप से अपने पैरों पर खड़ी स्त्री के लिए पूरे तौर पर शक्तिसंपन्न होने और सामाजिक-धार्मिक पाखंडों और वर्जनाओं का विरोध करने का क्या एकमात्र रास्ता अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति करना भर है ?

अनुवाद में प्रवाह है और मूल पाठ को पूरी तरह से आत्मसात करके किया गया लगता है।

चर्चित उपन्यास :

लेडीज़ कूपे : अनीता नायर; अनु. शुचिता मीतल; पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली; 2006; 190 रुपए

नरेंद्र तोमर के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : II-5/25, आशीर्वाद, वैशाली, ग़ाज़ियाबाद-201010, मो-9868352709

सुरेंद्र तिवारी

सीढ़ियों का बाज़ार

समकालीन महिला कथाकारों में अपनी एक अलग पहचान बनानेवाली मुक्ता का नया संग्रह है *सीढ़ियों का बाज़ार,* जिसमें ग्यारह कहानियाँ संकलित हैं। मुक्ता की कहानियाँ हमेशा आज की स्त्रियों की समस्याओं को ही समेटने—पहचानने की कोशिश करती नज़र आती हैं और इस संग्रह की कहानियाँ भी उसी धरातल पर खड़ी हैं, बल्कि सच तो यह है कि इन सारी कहानियों में पुरुष समाज एकदम उपेक्षित नज़र आता है। अगर एक-दो कहानियों में पुरुष चरित्र प्रमुख रूप से आए भी हैं तो स्त्रियों के दमनकर्ता, प्रताड़क या शोषक के रूप में ही, जैसे कि 'पोखर वैतरणी' या 'जनम दुख' में। 'पोखर वैतरणी' में केशव जहाँ अपनी भाभी आशा का दैहिक शोषण करता है वहीं आर्थिक शोषण भी। यहाँ तक कि फ़िक्स्ड डिपॉज़िट के एक काग़ज़ पर हस्ताक्षर कराने के लिए वह आशा को मारता-पीटता भी नज़र आता है। इसी तरह 'जनम दुख' में मिथिलेश का दैहिक शोषण कैलाश यादव करता है, लेकिन जब मिथिलेश उसके मन के ख़िलाफ़ कोई काम करती है तो वह झट कह देता है, "तो अब तुम मेरी जोरू बनने का ख़्वाब देख रही हो ? अपनी जात के भीतर रहो।"

इस कहानी में नारी-प्रताड़ना के पीछे पुरुष-समाज की जो मानसिकता है, उसे लेखिका ने बख़ूबी उभारा है, किंतु कहानी में एक और तथ्य बहुत सही ढंग से उभरकर सामने आया है कि पढ़-लिख जाने के बाद भी व्यक्ति के अंदर जो अर्थ-लिप्सा है, बेईमानी है, भ्रष्टता है वह नष्ट नहीं होती ! हरिजन परिवार में जन्म लेने वाली लड़की मुनिया बड़ी होकर मिथिलेश कुमारी हो जाती है, पढ़ती-लिखती है और गाँव के मेटरनिटी सेंटर में नौकरी करने लगती है। वहाँ वह तमाम हथकंडे अपनाती है जिससे मरीजों से ज़्यादा से ज़्यादा पैसा बटोरा जा सके। मजबूर और लाचार लोगों को वह खुलकर लूटती है और इन सब कामों में उसका मददगार होता है कैलाश यादव! किंतु जब कैलाश उसे ठुकरा देता है, उसकी जाति की पहचान उसे करा देता है, तब उसका सारा भ्रम टूट जाता है। वह कहती है, "हमने बचपन से ठाकुर ब्राह्मण की संगत की, बड़कन की तरह बनना चाहा। सारा गाँव हमें मेमसाब कहता है, लेकिन आज..." और उस वक़्त उसे एक बाबा समझाता है कि बड़कन की संगत से कुछ नहीं होनेवाला। अपनी जात पर अभिमान करना सीखना होगा। हमारा सुराज हमारे अंदर से आएगा। औरत को अब जागना होगा।

प्रेम के अलग-अलग रंग होते हैं। जहाँ कुछ लोग इसे स्वच्छंदता भी मान लेते हैं वहीं कुछ लोग प्रेम-पीड़ा में अपनी जान भी दे देते हैं। ठीक इसी तथ्य को उभारा गया है 'संगमरमर की सड़क पर' कहानी में। जेनी, जो पाश्चात्य सभ्यता में पली-बढ़ी युवती है और जिसके लिए प्रेम सिर्फ़ सेक्स का नाम है और किसी भी मर्द के साथ रह लेना उसके लिए एक सहज-स्वाभाविक कार्य है, जब नवीन नामक एक भारतीय युवक के प्रेम में पड़ती है तब उसे समझ में यह बात आती है कि प्रेम का अर्थ सिर्फ़ शरीर ही नहीं है! वह अपने पूर्व-संबंधों के कारण अपने को नवीन के अयोग्य मानने लगती है और उसके शादी के प्रस्ताव को भी ठुकरा देती है। जेनी नवीन से दूर चली जाती है। उसके ग़म में नवीन नशे में डूब जाता है और फिर उसकी मौत हो जाती है। क़रीब पंद्रह साल बाद जेनी की मुलाक़ात उसकी रूममेट से होती है। वह एक चर्च में नन के रूप में नज़र आती है, और तब उसके वक्तव्य के माध्यम से लेखिका ने प्रेम का एक अलग ही रंग उभारा है। जेनी कहती है, ''मैं बार-बार यही सोचती रही कि नवीन मुझे किसी और रूप में स्वीकार कर ले। मैं मछली बन जाऊँ, वह समुद्र...मैं नन्ही तितली, वह छायादार वृक्ष...मैं प्यासी कबूतरी, वह आकाश...बस, मैं जेनी न रहूँ! प्रतिपल मैंने नवीन में लय होना चाहा लेकिन यह शरीर बाधा बना रहा। अब तो यही संतोष है कि वह सुखी बना रहे, उसका परिवार उन्नति करे।'' और रूममेट साहस नहीं कर पाती कि उसे बताए कि नवीन अब इस दुनिया में नहीं रहा।

मुक्ता के पास अनुभव की विविधता के अतिरिक्त कथ्य को प्रस्तुत करने के लिए शिल्पगत चतुराई और भाषा पर भी अद्‌भुत अधिकार है। चरित्रों के स्वभाव और परिवेश के अनुसार भाषा का प्रयोग, स्थानीय बोलियों तक का प्रयोग इन कहानियों में है। कथ्य को जीवंत भाषा के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता लेखिका में है, और इसका लाभ यह भी है कि चरित्रों की विश्वसनीयता में वृद्धि हुई है। 'आँच' में एक शोषित-प्रताड़ित नारी का विद्रोह है जबकि 'मंडलावाली' में सामाजिक और धार्मिक रीतियों-कुरीतियों पर प्रहार है। बढ़ते धार्मिक आडंबरों की ओर संकेत करते हुए एक जगह सिरोहावाली कहती है, ''भागवत कथा, रामकथा तो सुनी थी बहू...ये चक्रधारी बापू की कथा क्या होवे है? हमारे जमाने में रामायणी लोगों का नाम भी कोई न जाने था...इतना तामझाम, इतना दिखावा हमारे जमाने में न था! दुर्गापूजा के नाम पर डाकुओं की तरह उगाही होवै है आजकल। जितनी शोभा यात्राएँ, जितने जुलूस बढ़े, उतनी मार-काट, खून-खराबा, जोर-जुलुम बढ़े! हमारे जमाने में ऐसा न था...!''

ये कहानियाँ यह भी सिद्ध करती हैं कि नारी शोषण का जो रूप है वह सिर्फ़ पारिवारिक ही नहीं है बल्कि धर्म और समाज का भी बहुत बड़ा हाथ है इसमें। सामाजिक स्थितियाँ इतनी जटिल हैं कि चाहकर भी व्यक्ति न तो अपना स्वतंत्र विकास कर पाता है, न ही अनेक तरह की विसंगतियों से अपना बचाव कर पाता है। 'कबूतर अब नहीं आएँगे', 'उस शहर का नाम' और 'सीढ़ियों का बाज़ार' कहानियों में इन स्थितियों से हमारा सामना होता है। 'उस शहर का नाम' में अंधे बच्चों के स्कूल के नाम पर जिस तरह कलाकारों का शोषण होता है, उन बच्चों का शोषण होता है, और कुछ समर्थ तथा शक्तिशाली लोग सारे फ़ायदे उठाते नज़र आते हैं, वह आज का एक बहुत बड़ा सत्य है। बच्चों, अपंगों, वृद्धों, विधवाओं आदि के संरक्षण के नाम पर आज न जाने कितनी संस्थाएँ सिर्फ़ अपना उल्लू सीधा कर रही हैं। कथाकार ने खुले शब्दों में एक स्त्री-कलाकार के माध्यम से

इन स्थितियों के प्रति विरोध दर्शाया है। 'कबूतर अब नहीं आएँगे' में रोटी का सवाल तो है ही, तमाम कोशिशों के बावजूद असंख्य लोग अपना पेट नहीं भर पाते हैं, वहीं कुछ रईस रोटियों को सड़क पर, नालियों में फेंक देना ही अपना धर्म समझते हैं। परंतु पीड़ा तब उभरती है जब एक मासूम बच्चे को एक धनाढ्य परिवार में इसलिए डाँटा जाता है कि वह कबूतरों को खिलाने के दाने ले जाता है। यह परिवार पकी-पकाई ढेरों रोटियाँ सड़क पर फेंक सकता है पर बच्चा कबूतरों को दाना नहीं दे सकता! धन-लोलुप समाज का यह दोहरा चरित्र इस कहानी में बख़ूबी उभरा है। यह एक बहुत बड़ा यथार्थ है आज का, जो यह कहानी दर्शाती है। बेटा विदेश में बैठकर ख़ूब धन कमा रहा है लेकिन उसे इस बात की चिंता नहीं है कि उसके माँ-बाप अपने देश में भूख से तड़प रहे हैं, भीख माँग रहे हैं! इन ज़मीनी सच्चाइयों को समझना और उन्हें उकेरना ही एक सफल कथाकार की पहचान है और मुक्ता इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कथाकार नज़र आती हैं।

संग्रह की अंतिम कहानी 'सीढ़ियों का बाज़ार' तो सचमुच आज के बाज़ारवाद के नंगे रूप को प्रस्तुत करने वाली कहानी है, जहाँ फ़्लैट की दीवारों पर माँ के चित्र की जगह बाँस की सीढ़ी का होना ज़्यादा आवश्यक माना जाता है क्योंकि सीढ़ी का उपयोग है, माँ के चित्र का नहीं! जहाँ ग़रीब बाप अपने आर्थिक लाभ के लिए अपने बेटे को मौत के मुँह में धकेलने से भी संकोच नहीं करता। आज इस अर्थतंत्र और स्व-लाभ के युग में सीढ़ी का कितना महत्त्व बढ़ गया है, इसका एक प्रतीकात्मक रूप कहानी में मौजूद है। एक जगह कथा-नायिका रमला कहती है, "पता नहीं कैसे मिसेज़ सक्सेना ने मुझे सीढ़ी बना लिया। मेरे ही कॉन्टैक्ट्स का फ़ायदा उठाकर उसने अपना प्रोमोशन करा लिया।" और यही है आज के मशीनी युग का सच! हर आदमी एक-दूसरे को धक्का मारकर, आगेवाले की टाँग खींचकर ख़ुद आगे बढ़ने में, ऊपर चढ़ने में लगा हुआ है। इस दौर में न तो संबंधों का कोई महत्त्व रह गया है, न ही सहृदयता का, उपकार का, बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इन स्थितियों की ओर यह कहानी इंगित करती है।

अंत में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि मुक्ता की कहानियों के पात्र पीड़ा और छटपटाहट झेलती स्त्रियाँ हैं, लेकिन वे विवश नहीं हैं, वे सूर्य को संबोधित करती स्त्रियाँ हैं।

चर्चित कहानी-संग्रह :

सीढ़ियों का बाज़ार : मुक्ता; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 90 रुपए

कहानी, नाटक, उपन्यास, साक्षात्कार एवं संपादित लगभग 16 पुस्तकों के रचयिता सुरेंद्र तिवारी का जन्म 1948 में हुआ। पंजाबी में अनेक नाटकों का निर्देशन भी किया। संपर्क : बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110089

पल्लव

आलोचना और संवाद

आमतौर पर यह माना जाता है कि हिंदी कहानी की आलोचना का संसार बहुत साफ़ नहीं रहा है। नई कहानी तथा बाद के आंदोलनों और समकालीन परिदृश्य पर आलोचना का हस्तक्षेप तो है लेकिन जितना और जैसा होना चाहिए, उतना और वैसा तो बिलकुल भी नहीं। यह

अकारण नहीं है कि कुछ उल्लेखनीय आलोचना पुस्तकों के अतिरिक्त इस समूचे कथा परिदृश्य पर जो सामग्री है वह या तो बिखरी पड़ी है या बातचीत के माध्यम से आ पाई है। नई कहानी के प्रतिभाशाली आलोचकों में एक नाम धनंजय वर्मा का रहा है। प्रगतिशील लेखक संघ के सक्रिय सदस्य व कहानी के गंभीर अध्येता की उनकी छवि समादृत है। उनके साक्षात्कारों के संग्रह *आलोचक का अंतरंग* को पहले पहल कहानी आलोचना के प्रसंग में देखने का ही आग्रह मन में होता है और यह आग्रह ग़ैर-वाजिब नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि वे कथा आंदोलनों के धुआँधार दौर के साक्षी-सहयोगी लेखक हैं। पाठक इसी आग्रह तक सिमटा न रह जाए, संभवतः यही विचार कर उन्होंने अपनी पुस्तक को अंतरंग शीर्षक दिया है जहाँ कहानी, आधुनिकता, नवलेखन, लघु पत्रिका, उच्च शिक्षा, राजनीति, संस्कृति और मीडिया जैसे विभिन्न विषयों पर उनके विचार हैं।

अपनी मान्यताओं और स्थापनाओं को लेकर यहाँ आलोचक की दृढ़ता स्वागत योग्य है वहीं इन साक्षात्कारों में तत्कालीन परिदृश्य भी ख़ासा निकलकर आया है। बेहतर होगा कि उनकी प्रमुख मान्यताओं-स्थापनाओं को देखा जाए। आलोचना की पक्षधरता के कायल हैं धनंजय वर्मा, वे कहते हैं : ''निष्पक्ष और तटस्थ आलोचना की माँग एक ग़लत माँग है। आलोचना का धर्म और कर्म एक बेहतर रचना-संस्कृति का निर्माण है इसलिए जो हीनतर है उसके प्रति आलोचना निष्पक्ष कैसे हो सकती है। जो प्रतिगामी है, मनुष्य-विरोधी है, सभ्यता और संस्कृति के ख़िलाफ़ है, मानव प्रगति में बाधक है—उन सबके प्रति आलोचना तटस्थ और निष्पक्ष कैसे रह सकती है? सच तो यह है कि जैसे राजनीतिहीनता की अपनी एक राजनीति होती है वैसे ही पक्षधरहीनता का भी एक पक्ष होता है।''

कथा आलोचना के प्रादुर्भाव को लेकर होने वाले विवाद में उनकी यह स्थापना ध्यान देने योग्य है कि ''कथा आलोचना का सूत्रपात हिंदी में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने किया था। *सरस्वती* जिसके वो संपादक थे, उसमें उनकी कहानी-आलोचना लगातार प्रकाशित हुई।... उन्होंने हिंदी उपन्यास और कहानी को भारत की पूर्व आख्यान परंपरा से जोड़ा, उसे पश्चिम की देन नहीं माना।...वो सच्चे मायनों में कथा-आलोचना के प्रवर्तक हैं।''

यह हमारे अकादमिक जगत का दुर्भाग्य ही है कि वहाँ इस तरह के शोध कार्य प्रायः नहीं होते जहाँ परिश्रमपूर्वक अनुसंधान करना पड़ता हो। कथा आलोचना के जो प्रतिमान धनंजय वर्मा ने सुझाए हैं वे देखे जाने चाहिए : ''समय के न्याय का रेखांकन, रचना के प्रसंग में अपनी निजी और ईमानदार प्रतिक्रिया और उसकी छानबीन, उसका एकीकरण और पुनर्विन्यास, रचना के भावात्मक असर और प्रभाव बिंब का संगत प्रतिविन्यास, रचना को ज़िंदगी के सामाजिक, राजनैतिक और समग्र मानवीय सरोकारों की समन्वित विवेक दृष्टि से परखना, रचना में जीवन यथार्थ के प्रतिबिंबन की प्रकृति की पहचान, रचना का परिवेश, उसके भावबोध, उसके अनुभव संसार और जीवन-दृष्टि, मानव बिंबों का विन्यास और मानवीय परिकल्पना, रचना का परिप्रेक्ष्य, भाषिक संरचना, स्थापत्य और अंततः उसका समग्र प्रभाव और सामाजिक असर...ये कुछ बिंदु हैं जिनके आधार पर मैं किसी कृति को परखना चाहता हूँ।''

कहानी की जो परिभाषा प्रो. वर्मा देते हैं, वह है : ''कहानी ख़ुद जीवन की बदलती हुई परिभाषा है। वह एक अधिक प्रत्यक्ष और सहज

मानवीय सहभाग और संवाद है।'' उन्होंने कभी सौंदर्यशास्त्र के वजन पर रचनाशास्त्र शब्द का प्रस्ताव किया था। उनकी पुस्तक का भी नाम है : *हिंदी कहानी का रचनाशास्त्र*। वे बताते हैं : ''सौंदर्यशास्त्र के वजन पर रचनाशास्त्र के प्रयोग का प्रस्ताव मैंने इसलिए किया था कि सौंदर्यशास्त्र एक बहुत व्यापक शास्त्र है, जिसमें समस्त कलाओं की रचना प्रक्रिया और उसके आस्वाद का समावेश है। इसके अलावा सौंदर्यशास्त्र से सौंदर्यशास्त्रवादी या कलावादी समझे जाने की भी आशंका है, इसलिए मैंने रचनाशास्त्र नाम प्रस्तावित किया। रचनाशास्त्र से मेरा तात्पर्य कहानी की रचना के रहस्य का एक वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करने का प्रयत्न है।''

कहानी के संबंध में प्रो. वर्मा द्वारा लिखी गई आलोचना महत्त्वपूर्ण है। राजेश जोशी से की गई बातचीत में नई कहानी, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर की कहानियों पर उन्होंने महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी हैं। निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' पर बात करते हुए वे कहते हैं : ''यह ज़रूर है कि परिवेश और चरित्रों को चुनने के पीछे लेखक की वर्गीय संवेदना, वर्गीय सहानुभूति और वर्गीय दृष्टिकोण काम करते हैं''...और ''मैं समझता हूँ 'परिंदे' में जो वर्ग उभरता है, वह अभिजात वर्ग नहीं है, उसकी मानसिकता एक ऐसा वर्ग जीता है, जो अपनी जड़ों से कटा हुआ है और जिनसे जुड़ना चाहता है उनसे 'जुड़ा' हुआ नहीं है।''

इन साक्षात्कारों को पढ़ते हुए आलोचक धनंजय वर्मा की जो छवि पाठक के भीतर जन्म लेती है वह अध्यवसायी, परिश्रमी और होशियार साहित्यिक की है जो अपनी प्रतिभा के दम पर शीर्ष पदों तक पहुँचा।

पुस्तक में कुछ ही साक्षात्कार ऐसे हैं जिन्हें सही मायने में साक्षात्कार कहा जाना चाहिए। इस संदर्भ में अब तो मनोहर श्याम जोशी सर्वोत्तम (और संभवत: एकमात्र भी) कहे जाएँगे जिन्होंने हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और नागार्जुन के अद्वितीय साक्षात्कार लिए। यहाँ अरुण तिवारी और बलराम गुमास्ता द्वारा 1997 में लिया गया साक्षात्कार 'सृजन का समकालीन परिदृश्य : आलोचक का साक्ष्य' पुस्तक का सबसे बढ़िया साक्षात्कार (कुल 32 साक्षात्कार) कहा जाना चाहिए। अधिकांश साक्षात्कार ऐसे हैं जहाँ प्रश्न पूछने वाले की तैयारी तो दूर कई बार अपरिचय-अज्ञान भी दिखाई दे जाता है। प्रो. वर्मा को साधुवाद दिया जाना चाहिए कि उन्होंने सामान्य-साधारण प्रश्नों के उत्तर भी गंभीरता से देकर उनका महत्त्व बढ़ा दिया है। 'हिंदी भाषा और साहित्य में उच्च शिक्षा' विषयक संवाद में हिंदी अध्यापन और शोध के संबंध में उनके विचार व्यापक महत्त्व के हैं। यहाँ महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलपति (तत्कालीन) अशोक वाजपेयी के प्रश्न थे जिनके वर्मा जी ने उत्तर दिए हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि औपचारिक-अनौपचारिक इन बातचीतों से आलोचक धनंजय वर्मा का व्यक्तित्व और उनके विचार पाठक के समक्ष खुले हैं, गंभीर मुद्दों पर भी पठनीयता में कोई अवरोध नहीं।

चर्चित साक्षात्कार-संग्रह :
आलोचक का अंतरंग : धनंजय वर्मा; आलेख प्रकाशन, दिल्ली; 2005; 360 रुपए

पल्लव के समीक्षात्मक आलेख प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 403/बी-3, वैशाली अपार्टमेंट्स, सेक्टर-4, हिरण मगरी, उदयपुर-313002, फ़ोन-9414732258

मो. कासिम

परों के रंग मगर रह गए हैं चुटकी में

शकेब जलाली की ग़ज़लों का संग्रह है—*पानियों पे नाम*। जिसका चयन एवं लिप्यंतरण किया है—मंजूर एहतेशाम और लीलाधर मंडलोई ने। शकेब ने 34 वर्ष की आयु में ज़माने से तंग आकर आत्महत्या कर ली थी। मंजूर एहतेशाम ने शकेब के बारे में ठीक ही लिखा है कि शकेब निस्संदेह उर्दू का शायर है, जिसकी शायरी, रुबाई और उसलूव की नक़ल करने की सबसे ज़्यादा कोशिश की गई है। आज जब शकेब को गुज़रे लगभग तीस-पैंतीस साल होने को हैं, इस नक़्क़ाली का सिलसिला उसी लगन और कमसमझी से जारी है। दिलचस्प बात यह है कि कोई भी शायर इस नक़्क़ाली में इतना कामयाब नहीं हो पाया कि उसे शकेब जलाली का वारिस कहा जा सके।

स्वर्गीय फ़ज़ल ताबिस को समर्पित इस किताब में शब्द तितलियों की तरह हैं और वे तितलियाँ उड़ जाने पर भी मन पर अपने रंग छोड़ जाती हैं। उनके इस शेर की ख़ूबसूरती देखते ही बनती है। बहुत सामान्य-सी बात को कितनी ख़ूबसूरती से बड़े परिप्रेक्ष्य में रखते हैं :

मेरी गिरफ़्त में आकर निकल गई तितली
परों के रंग मगर रह गए चुटकी में

इसी तरह ये शेर देखिए :

पहले तो मिटी याद से आई उन्हें हया
फिर आईने में चूम लिया अपने आपको

इन ग़ज़लों में दिल है, ज़ख़्म हैं, तनहाइयाँ हैं तो धूप-धुआँ, तितलियाँ, साँप जैसे बिंब भी हैं। यह शेर आदमी की दुनिया पर ज़बर्दस्त व्यंग्य करता है :

डस ले तो इनके ज़हर का आसान है उतार
ये साँप आस्तीन के पाले हुए नहीं हैं।

कुछ शेरों में तो व्यंग्य की धार ख़ूब रंग लाई है :

चलते हो सीना तान के धरती पे किस लिए
तुम आसमां तो सर पे सँभाले हुए नहीं

दिल की दरियादिली पर कई शायरों ने लिखा है पर शकेब जलाली ने भी कोई कसर नहीं छोड़ी :

दिल-सा अनमोल रतन कौन ख़रीदेगा 'शकेब'
जब बिकेगा तो ये बेदाम ही बिक जाएगा

शकेब के बारे में लीलाधर मंडलोई कहते हैं : "शकेब ने अपनी शायरी की दुनिया जिस ख़ुद्दारी से गढ़ी है, वो एक दुर्लभ उदाहरण है। वह काल को लाँघती हुई देर तक जागने की ताक़त से लैस है, क्योंकि उसमें मौलिकता का शिखर है, चाहे ज़िंदगी को जानना हो या ज़िंदगी से दूर जाने का जज़्बा—दोनों ही सूरतों में यह कहने का ढंग है कि मुझे गिरना है तो मैं अपने ही क़दमों में गिरूँ जिस तरह साया-ए-दीवार पे दीवार गिरे। हालाँकि शकेब ज़िंदगी की तरह शायरी भी अधबीच में छोड़ गए, फिर भी उसमें नई ज़िंदगी के नुक़ूस हैं, करवटें और आहटें हैं।

इन ग़ज़लों को पढ़ते हुए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह लगती है कि यह उस आदमी के लिए है, जो सतत् संघर्षरत है। दर्द भी ऐसा कि दिल पिघल जाए। ज़माने का तेवर उनकी शायरी में ख़ूब उभरा है :

लोग दुश्मन हुए उसी के शकेब
काम जिस मेहरबान से निकला

यहाँ यह बताना सबसे ज़रूरी होगा कि जब वे ग़ज़ल लिख रहे थे, तब तरक़्क़ीयाफ़्ता ज़ुबान से लिखना बहुत जोखिम भरा था। इसलिए ये

ग़ज़लें जहाँ जीवन की ज़िद हैं वहीं ख़ुद से एक विद्रोह भी। चुप्पी के विरुद्ध एक ताक़त का अहसास दिलाती हैं ये ग़ज़लें। इनमें पसीने की वह गंध है, जो आदमी को हर हाल में आदमी बनाए रखना चाहती है। यह शेर देखिए :

ठोकर से मेरा पाँव तो ज़ख़्मी हुआ ज़रूर
रास्तें में जो खड़ा था वो कोहसार हट गया

इस तरह शकेब की ये ग़ज़लें जहाँ परंपरा का अनुगमन करती हैं, वहाँ परंपरा से छेड़छाड़ भी। ग़ज़ल का व्याकरण यह कहता है कि एक ग़ज़ल में तीन से कम शेर नहीं होने चाहिए, जबकि अधिकतर शेरों की संख्या सत्रह है। इसमें तेरह से ज्यादा शेरों वाली एक भी ग़ज़ल नहीं है। चौंकाने वाली बात यह भी है कि जो शेर एक ग़ज़ल में आ चुके हैं, वही शेर दूसरी ग़ज़ल का भी हिस्सा बन जाता है, जैसे :

दिल-सा अनमोल रतन कौन ख़रीदेगा 'शकेब'
जब बिकेगा तो ये बेदाम ही बिक जाएगा

यह शेर पृष्ठ 59 पर आई ग़ज़ल का मक़्ता बना है। दूसरी जगह पृष्ठ 69 पर आई ग़ज़ल का यह दुहराव क्यों?

ग़ज़ल के इतिहास में एक शेर वाली ग़ज़लें नहीं के बराबर होती हैं। शकेब ने तक़रीबन एक दर्जन की संख्या में ऐसी ग़ज़लें लिखी हैं। यह उनके विद्रोही तेवर का परिचायक है।

उर्दू/हिंदी में इन दिनों दो तरह की ग़ज़लें लिखी जा रही हैं—परंपरित व्याकरण पर आधारित और दूसरी आज़ाद ग़ज़ल के नाम से। 'शकेब' की अधिकतर ग़ज़लें परंपरित हैं। इस संकलन में कुछ ऐसी ग़ज़लें भी हैं जो शास्त्रीयता का उल्लंघन करती हैं, जैसे यह ग़ज़ल :

तोड़के हल्क-ए-शब डाल के तारों पे कमंद
आदमी अरसा-ए-आफ़ाक़ पे छा जाएगा

इस ग़ज़ल में क़ाफ़िया और रदीफ़ का पालन नहीं हो सका है।

इन थोड़े से अपवादों को छोड़ दिया जाए तो संकलन की ग़ज़लें पठनीय और स्मरणीय बन पड़ी हैं। शकेब की शायरी में एक तरफ़ रूमान के धुँधलके (परछाइयाँ) हैं तो दूसरी तरफ़ ज़िंदगी के निगारख़ाने की किरणें भी उभरती हुई महसूस होती हैं, उनके शेरी इज़हार की सादगी और ज़ुबान की सलासत और रवानी हर तरह के कारी को प्रभावित करती है। उनकी ग़ज़लों में गहराई, तहदारी और दिलकशी है, वह नब्ज़-शनास है। सच्चाई और सदाकत को ज़ुबान देने का हुनर जानते हैं, उन्होंने उर्दू ग़ज़ल को नया लहजा दिया है और महसूसात को इज़हार का आईना बनाया है।

चर्चित ग़ज़ल-संग्रह :
पानियों पे नाम : **शकेब जलाली;** ***चयन एवं लिप्यंतरण:*** **मंज़ूर एहतेशाम एवं लीलाधर मंडलोई; शिल्पायन, दिल्ली; 2006; 75 रुपए**

मो. कासिम के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : भीखनपुर, गुमटी नं. 3, हटीया, भागलपुर-812001 (बिहार), मो-9431422795

पाठांतर

विविध भाषाओं के रचना-पुष्पों से सज्जित *समकालीन भारतीय साहित्य* रूपी स्तबक साज-सज्जा एवं स्तरीयता की दृष्टि से उत्कृष्ट होता है। पत्रिका का अंक 130 प्रख्यात हिंदी कथाकार कमलेश्वर तथा अंक 131 अंग्रेज़ी भाषा के प्रथम भारतीय कथाकार राजा राव के लेखन को समझने की समग्र दृष्टि प्रदान करता है। 'आमुख' में आपका कथन सत्य है, रचनाकार कभी स्वर्गीय नहीं होता। अपनी कृतियों के माध्यम से वह सदैव संवाद की स्थिति में होता है। संस्कृति कोश की आवश्यकता पर आपके विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। भारत जैसे संस्कृति बहुल देश में संस्कृति कोश की उपादेयता असंदिग्ध है। 'ठगी', 'मरदानी', 'प्याऊ', 'डर', यादगार कहानियाँ हैं। संस्कृत पत्रकारिता, पंजाबी कहानी की यात्रा, हिंदी आलोचना से संबद्ध सामग्री संग्रहणीय है। भारतीय साहित्य की एक समग्र पहचान प्रस्तुत करने में पत्रिका का योगदान सराहनीय है। इसकी यही विशिष्टता इसे अन्य पत्रिकाओं से अलग करती है।

डॉ. विद्या सिंह, देहरादून

अंक हाथ में है और पिछले 15 दिन से शनैः-शनैः पढ़ता हुआ पृष्ठ 203-204 तक पहुँचा हूँ। यहाँ पृष्ठ लेख की द्वितीय कतार में 'यथासमय ही' के ठीक नीचे...''व्यंग्य की भाषा जिन बिंबों से बनती है...चुनौती है।'' शरद जोशी की पुस्तक के मूल्यांकन की शाब्दिक रफ़्तार में यशवंत व्यास की लेखनी यहाँ सहसा ठिठका/सहमा/ठहरा देती है। स्वस्थ व्यंग्य के लिए स्पष्ट 'अकाल' को व्यास ने जहाँ बता दिया है वहीं शरद जोशी की तारीफ़ का 'ओवरब्रिज' ऐसी ख़ूबसूरती से किया है कि मन लक्ष्मण झूले पर सवार झूलता महसूस हुआ। पृष्ठ 204 की प्रथम क़तार शब्दावली में...हमारे अग्रज व्यंग्यकार लाल चतुर्वेदी... मतलब है ?'' का दृष्टांत देते हुए व्यास ही ऐसी 'नुक़्ताचीनी' परोस सकते हैं—जो आज के ख़ुशामदी प्रकाशन और पाठकीय युग में शायद ही कोई क़लमकार करके 'चीनी में नमक' मिला सके। बहरहाल अंक में आरंभ से अंत तक सभी विशेष लगा। अतिविशिष्ट की मेरी श्रेणी के अनुसार—कमलेश्वर जी, मनमोहन बावा, कृष्ण चंदर, अक़ील क़ैस, सत्यजित राय, श्रुति व मूल्यांकन में व्यास तथा पल्लव ने अंक की समृद्धता बढ़ाई है। अगले अंक की प्रतीक्षा है।

मोहन थानवी, बीकानेर, राजस्थान

समकालीन भारतीय साहित्य का ताज़ा यानी मई-जून 2007 अंक प्राप्त हुआ। इस अंक में आपने एक या दो नहीं बल्कि पंजाबी सहित आधा दर्जन भारतीय भाषाओं की विभिन्न रचनाएँ प्रकाशित करके अपने पाठकगण की ज़रूरतों का ख़याल रखा है। 'कमलेश्वर प्रसंग' के तहत हमारे महान कथाकार और उपन्यासकार के जीवन और रचना पर जो संवाद रचाया है, उसका साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। कमलेश्वर ने केवल भारत में नहीं बल्कि विश्व साहित्य में भी अपना नाम कमाया और कालजयी रचनाएँ देकर अपना विशाल पाठक वर्ग पैदा किया। *समकालीन भारतीय साहित्य* ने उचित समय पर उनके बारे में चर्चा छेड़कर सार्थक कार्य किया है।

डॉ. दर्शन सिंह आशट, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, पंजाब

समकालीन भारतीय साहित्य का नया अंक पढ़ा। इस बीच पत्रिकाओं में कमलेश्वर पर विपुल सामग्री आई। लेकिन कमलेश्वर पर डॉ. धनंजय

वर्मा एवं डॉ. हरदयाल का लेख और पद्मा सचदेव के आत्मीय संस्मरण ने विशेष प्रभावित किया। पंजाबी कहानी खंड अंक की विशेष उपलब्धि है। बलदेव सिंह धालीवाल से लेकर उदांबरा तक की कहानियों का कथाप्रवाह गहराई तक प्रभावित करते हैं।

भारतीय भाषाओं की सभी ग़ज़लें पठनीय हैं। सुभाष शर्मा की कहानी 'कुदेशन' और अक़ील क़ैस की 'तिर्यक रेखा' मर्मस्पर्शी कहानियाँ हैं जो समकालीन सोच से रू-ब-रू कराती हैं। पत्रिका में दो सौ पृष्ठों के भीतर भारतीय परिवेश और वाङ्मय की धड़कन सुनाई पड़ती है, कहूँ तो अतिशयोक्ति नहीं।

संतोष झांझी, भिलाई नगर, छत्तीसगढ़

समकालीन भारतीय साहित्य का मई-जून 07 अंक प्राप्त हुआ। आपने संपादकीय में भारतीय संस्कृति कोश की आवश्यकता की बात की, जो बिलकुल समीचीन है। भाषा के शब्द ही गुम नहीं होते, समय के अंतराल में अनेक संस्कार भी गुम होने लगते हैं, जिनका सँभाला जाना बहुत ज़रूरी है।

इस अंक में कमलेश्वर पर पद्मा सचदेव का संस्मरण बहुत प्रभावशाली है। कमलेश्वर के अनेक अंतरंग अछूते चित्र बड़ी साफ़गोई से प्रस्तुत किए हैं। पद्मा जी की शैली का तो जवाब ही नहीं। अनेक वर्ष पहले रामधारी सिंह दिनकर जी ने उनकी विशेष प्रशंसा की थी। अब तो फल पककर और भी मधुर हो चुका है।

कमलेश्वर की कहानी 'इतने अच्छे दिन' सचमुच भीतर तक झिंझोड़ देती है कि व्यक्ति भूख के लिए अकालग्रस्त मृत लोगों की हड्डियाँ खोज-खोजकर बेचता है, जिसमें कमली की अपनी दादी की हड्डियाँ भी हैं। भूख का तांडव किस प्रकार संवेदनाओं की हत्या कर देता है, और आदमी को आदमीयता से ख़ारिज कर देता है। 'कुदेशन' कहानी में भी बहुत कुछ यही चित्र है। यहाँ भी भूख, ग़रीबी नारी को स्वयं शोषण करवाने पर मजबूर करती है। यहाँ तक कि उसके मातृत्व-वात्सल्य का भी शोषण होता है। नेपाली कहानी शांति छेत्री की 'पैर' छोटी-सी कहानी होने पर भी प्रभावित करती है। अपितु आजकल जो लंबी-लंबी कहानी लिखने का फ़ैशन चल पड़ा है, उनमें आकर्षण कम ऊब ज़्यादा होती है। कई बार तो आधी कहानी पढ़कर ही छोड़ देनी पड़ती है। आधुनिकता के नाम पर कहानी को बोझिल बनाना लेखक का हठ है। पाठक की अपनी इच्छा है। कोई उससे ज़बरन अपनी कहानी नहीं पढ़वा सकता। सब होने के बावजूद रंजकता भी एक तत्त्व है, जो पाठक को बाँधकर रखता है। कहानी में उसका होना भी ज़रूरी है।

इस अंक में 'उदांबरा' अच्छी लगी। इसे पढ़कर चतुरसेन की याद आ गई। इस कहानी ने सचमुच अंत तक बाँधे रखा। 'अंतिम परीक्षा' कहानी की विषय वस्तु अपने आप में समीचीन है और प्रभावित करनेवाली है। नेपाली छवि विचंद्र की कविताएँ अपनी सहजता के कारण प्रभावित करती हैं। आशीष त्रिपाठी की कविताएँ भी अलग क़िस्म की हैं। अच्छी लगीं। कुल मिलाकर इस अंक की सामग्री पिछले अंकों से बहुत अच्छी है।

पुष्पारानी गर्ग, इंदौर, मध्यप्रदेश

समकालीन भारतीय साहित्य का मई-जून 2007 का अंक मिला। मुद्रण और सामग्री के हिसाब से लाजवाब। रचनाएँ उच्च कोटि की विशेषकर पृष्ठ 170 पर प्रकाशित नेपाली कविता 'प्रतिबिंब' अच्छी लगी। कवि विचंद्र जी को हार्दिक बधाई और चयन के लिए आपको भी। छोटी-छोटी कविताएँ ज़्यादा सार्थक होती हैं। परंतु आप बाल-साहित्य तथा व्यंग्य क्यों नहीं प्रकाशित करते। इन दो विधाओं से बैर क्यों ? क्या इन दो विधाओं में साहित्य नहीं रचा जा रहा, यदि रचा जा रहा है तो उसके स्तरीय होने में आपको संदेह है ?

पत्रिका में इन दो विधाओं को स्थान देने से आयाम-विस्तार होगा। ऐसी मेरी मान्यता है।

डॉ. विजय दीक्षित, गोरखपुर

समकालीन भारतीय साहित्य का मार्च-अप्रैल 2007 अंक मेरे हाथ में है। वैसे इसका प्रत्येक अंक नयापन एवं उत्तम साहित्यिक सामग्री से भरपूर रहता है। सुव्यवस्थित संपादकीय एवं संपादक मंडल की कार्य दक्षता प्रशंसनीय है। भेजी गई रचनाओं की स्वीकृति एवं अस्वीकृति की जानकारी यथासमय देकर कर्तव्यनिष्ठा के परिचायक हैं। इसमें साहित्यकारों को बड़े इंतज़ार की मशक्कत नहीं झेलनी पड़ती है।

संपादकीय के अतिरिक्त रामवचन राय की 'प्रयोगवाद और हिंदी आलोचना का विकास' पठनीय ही नहीं संग्रहणीय भी है। हरेप्रकाश उपाध्याय की कविता 'बुराई के पक्ष में' बहुत अच्छी बन पड़ी है। कौन कहता है कि आजकल साहित्य मर रहा है। इस कविता के पढ़ने से ऐसा कदापि नहीं लगता है। इसके साथ ही राजेंद्र चंद्रकांत राय की 'ठगी' कहानी ने प्रभावित ही नहीं किया अपितु हृदय को झकझोर दिया है। जबलपुर के स्लीमैनाबाद की संगमरमर की खानों से ठगी शुरू होती है, यह ठगी चुनाव प्रचार में अपना रंग दिखाने लगती है। इस ठगी में आमजन अपने आपको ठगाने में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेता है। अंत में यह ठगी बिंदा के झुल्ला में बंद हो जाती है। बुंदेली के बघार ने कहानी को और अधिक स्वादिष्ट एवं मनोरंजक बना दिया। साथ ही हमें सोचने को मजबूर कर दिया। यह कहानी एक प्रश्न छोड़ जाती है। हम कब तक अपने आपको ठगवाते रहेंगे? इतनी अच्छी कहानी लेखन के लिए लेखक को बधाई। 'ख़ाली', 'मरदानी' कहानियाँ भी ठीक बन पड़ी हैं। कश्मीरी कहानी 'शिल्पकार' आगे के लिए विकल्प तलाशती है। तेज़ी से बदलते ज़माने में क्या कुछ कम पड़ जाए, कहा नहीं जा सकता है। स्वयं लेखक के शब्दों में—"अब अपने लिए भी पत्थर तराशना चाहता है क्योंकि उसे आशंका है कि उसके मरने तक शायद ही कोई पत्थर बाक़ी बचेगा...।"

सब ठीक होते हुए भी मैं एक सुझाव देना चाहूँगा कि साहित्यकारों की रचनाओं के साथ उनके चित्र भी प्रकाशित किए जाएँ तो अच्छा रहेगा।

लखनलाल पाल, उरई, जालौन, उत्तरप्रदेश

आपके द्वारा भेजा गया *समकालीन भारतीय साहित्य* का मई-जून अंक प्राप्त हुआ। नई व्यवस्था के अंतर्गत पत्रिका सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित हो रही है। हर अंक में मुद्रित सामग्री सघन, विविधता और गुणवत्ता से भरपूर रहती है। ग़ज़ल, हिंदी व क्षेत्रीय भाषाओं की कहानियाँ, कविताएँ, मूल्यांकन और आलेख इत्यादि समय की माँग को विशिष्ट ढंग से पूरा करते हैं। 'कमलेश्वर प्रसंग' का संयोजन कर आपने हिंदी के एक सशक्त गल्पकार और बहुमुखी प्रतिभा के धनी एक दिवंगत व्यक्ति को सलीके से स्मरण किया और करवाया है। ज़िक्र करने को तो बहुत कुछ है आपके इस अंक में, फिर भी सदा अंबालवी का ये शे'र कोट करूँ तो मौज़ूँ होगा :

ग़ाज़ी बड़ा है कोई, न छोटा ग़ज़ल सरा
अपनी जगह पै तेग़ है, अपनी जगह क़लम

श्रीनिवास श्रीकांत, संदल हिल, शिमला

समकालीन भारतीय साहित्य का 130वाँ अंक मैनचेस्टर की यात्रा के दौरान और यहाँ पहुँचकर पूरा पढ़ चुका हूँ। कमलेश्वर पर आपने, संपादकीय में बड़ी बेबाकी से लिखा है। राजा राव पर डॉ. एस. रामास्वामी, यू.आर. अनंतमूर्ति और अलका त्यागी के लेखों ने उन्हें समझने के

लिए बहुत सारी सामग्री दी। डॉ. रामवचन राय तथा के. नारायण के आलेख तथा अरविंद मोहन का *लपटों में न्यूयॉर्क* तथा वेदप्रकाश का असगर वजाहत के *मैं हिंदू हूँ* पर मूल्यांकन/समीक्षा की स्तरीयता प्रशंसनीय है। कथाओं/कविताओं में घंटों रमा रहा। इतनी पठनीय और वैविध्यपूर्ण सामग्री देने के लिए मेरा साधुवाद स्वीकार करें।

कीर्त्तिनारायण मिश्र, बरौनी, बिहार

समकालानी भारतीय साहित्य का अंक 132 (जुलाई-अगस्त 2007) प्राप्त हुआ। पत्रिका के इस अंक में प्रथम स्वाधीनता संग्राम के परिप्रेक्ष्य में पाँच आलेख प्रकाशित किया जाना पत्रिका को नवीन आभा एवं गरिमा से मंडित करते हैं। इन आलेखों के पारायण से भारतीय मनीषा की उस महान घटना पर छाई हुई गर्द भी काफ़ी हद तक दूर हो सकेगी; निश्चय ही स्तुत्य प्रयास है। किस तरह से भारतीय लेखकों, कवियों तथा चिंतनशील प्रज्ञा के बुद्धिजीवी वर्ग ने इस मुक्तिकामी संघर्ष की वैचारिक एवं भावात्मक बुनियाद तैयार की, उनकी चिर-गाथा वॉल्टेयर, रूसो के अवदान से यत्किंचित् भी न्यून नहीं। 1857 हमारा स्वाधीनता संग्राम है, था तथा रहेगा—अब यह भारतीय इतिहास की सर्वसम्मत संकल्पना बन चुकी है। स्वनामधन्य गोपी चंद नारंग साहब का विशेष आलेख ग़ालिब के बहाने समग्र भारतीय साहित्यिक परिदृश्य का 1857 के स्वाधीनता संग्राम में योगदान का रेखांकन करता है और ग़ालिब की शायरी में व्यक्त उन तमाम अशआरों जो अंग्रेजियत व उनकी संप्रभुता (Sovereignty) को चुनौती देते हैं, से पाठक का गहरा परिचय कराते हैं। और यह सही भी है कि मात्र ग़ालिब ही पूरी जुबान के एकमात्र आधिकारिक एवं प्रतीकात्मक प्रवक्ता उस समय थे।

निर्मला जैन, पी.सी. जोशी, वेदप्रताप वैदिक, पुरुषोत्तम अग्रवाल एवं शंभुनाथ के आलेख एवं रचनाएँ भी अलग-अलग कोणों से उस घटना के विविध स्वरूपों पर गहन चिंतनात्मक अध्ययन हैं। ये सभी आलेख उन सभी ज्ञात-अज्ञात, गुमनाम, उपेक्षित एवं अल्पज्ञात क़लमकारों के प्रति भी एक विनम्र श्रद्धांजलि है जिन्होंने लोकमानस में क्रांति एवं शौर्य की लौ को जलाए रखा। सचमुच यह समग्र अंक ही संग्रहणीय एवं स्तुत्य है।

आमुख में औपनिवेशिक मानसिकता किंवा औपनिवेशिक कुटिल चालों की ओर इंगित मात्र किया है कि किस प्रकार अंग्रेज़ राजनय नहीं चाहता था कि राष्ट्रीयता का कोई बीज भारत में पनपे तथैव उन्होंने राष्ट्रीयता अभ्युदय करने वाले तमाम कारकों, तत्त्वों एवं प्रतीकों को नेस्तनाबूद करने का घृणित कार्य किया या ग़लत अवधारणाओं का प्रतिपादन किया।

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी एवं महादेवी वर्मा पर लिखित आलेख ध्यानाकर्षित करते हैं तथा रंजना अरगड़े का 'महादेवी की चिंतनात्मक भूमि' नई ज़मीन तलाश करते हैं, बधाई। गुलज़ार, प्रतिभा राय, ममता कालिया और रमेश उपाध्याय की कहानियाँ, तिस पर विजयदान देथा का समग्र उपन्यास 'मरवण' एक ही अंक में मिलना किसी रोमांच से कम नहीं, सुखद अनुभूति है। राजस्थान के समृद्ध लोक-प्रसंगों को जिस सुरुचिपूर्ण पठनीयता के साथ देथा जी प्रस्तुत कर रहे हैं, वह हमारी विरासत का ही प्रकारांतर से मान-सम्मान है। कविता खंड में अश्वघोष, मृदुला प्रधान, सत्येंद्र कुमार रघुवंशी, स्मिता झा अपनी रचनाओं में गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। समीक्षा खंड में भी राजाराम भादू 'वृत्तांत का नया वितान' में भी यशवंत व्यास के चर्चित उपन्यास *कामरेड गोडसे* की चर्चा के बजरिए कई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक मुद्दों की ओर दृष्टिपात करते नज़र आते हैं। कुल मिलाकर यह अंक पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय है तथा बेहतर संपादन एवं चयन का जीवंत दस्तावेज़ है।

विजय सिंह नाहटा, गोपालपुरा बाईपास, जयपुर

समकालीन भारतीय साहित्य यहाँ पर भी उपलब्ध है

बी.सी. एक्सपोर्ट्स
16/194, ग़ली नं. 7
फ़ैज़ रोड, करोल बाग़
नई दिल्ली

एम.एल. एंड संस (सचिन एंड संजीव)
बुक एंड मैगज़ीन होलसेलर डीलर
शिवाजी स्टेडियम कॉम्पलेक्स
गेट नं. 8 के निकट, लेडी हार्डिंग कॉलेज के सामने
नई दिल्ली 110001.

डी.के. एजेंसीज़ प्रा. लि.
ए-15/17, डी.के. एवेन्यू
मोहन गार्डन, नज़फ़गढ़ रोड
नई दिल्ली 110059

बिबलिया इम्पेक्स प्रा. लि.
2/18, अंसारी रोड
नई दिल्ली 110002

रामगोपाल शर्मा एंड संस
11, शंकर मार्किट
कनॉट प्लेस, सुपर बाज़ार के सामने
नई दिल्ली 110001

सेंट्रल न्यूज़ एजेंसी लि.
डिपार्टमेंट एल.सी.
4-ई/15, अशोका सेंटर
झंडेवालान एक्स., नई दिल्ली 110055

वाणी प्रकाशन
द्वारा बुक कॉर्नर, श्रीराम सेंटर
मंडी हाउस, नई दिल्ली 110001

श्री इंदर कुमार
मॉडर्न बुक डिपो, दुकान नं. 32
अलबर्ट एक्का चौक, फ़िरायलाल चौक के सामने
मेन रोड, राँची, झारखंड 834001

सर्वोदय साहित्य भंडार
रायपुर रेलवे स्टेशन, प्लेटफ़ॉर्म नं. 1
रायपुर 492009, म.प्र.

बुक एंड न्यूज़ मार्ट
एम.आई. रोड
जयपुर 302001, राजस्थान

मोहन न्यूज़ एजेंसीज़
रामपुरा बाज़ार
कोटा, राजस्थान 324006

लोकभारती
बुक सेलर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर
15-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद 211001

लक्ष्मी बुक कॉर्नर,
द्वारा आर.ए. दुबे न्यूज़ एजेंसी
26, एम.जी मार्ग, सिविल लाइन्स,
इलाहाबाद, उ.प्र.

चावला बुक डिपो,
होल सेलर एंड रिटेलर
194/24, दिल्ली रोड
मेरठ कैंट, मेरठ, उ.प्र.

भीम पुस्तक भंडार
एल-335, इंदिरा नगर कॉलोनी
राय बरेली 229001, उ.प्र.

सिंह एंड ब्रदर्स, वाराणसी
सी-32/2, विद्यापीठ रोड
वाराणसी, उ.प्र. 221001

सर्वोदय साहित्य भंडार
रेलवे स्टेशन, प्लेटफ़ार्म नं. 4-5
वाराणसी, उ.प्र. 221002

इंडियन बुक डिपो
आदित्य भवन, प्रथम तल, बी.एन. वर्मा रोड,
अमीनाबाद पो.ऑ. के सामने, लखनऊ, उ.प्र. 226018

अक्षरा
उत्कृष्ट साहित्य प्रतिष्ठान
114, जनता मार्किट, विश्वविद्यालय के निकट,
रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर, उ.प्र. 273009

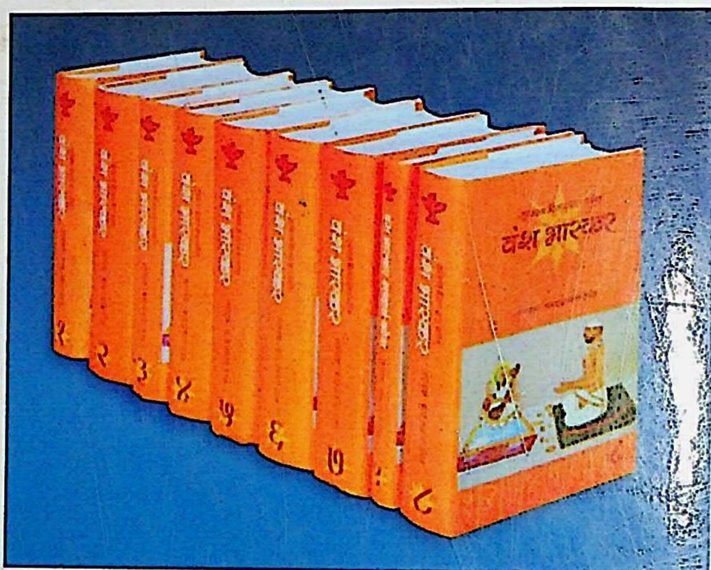
साहित्य अकादेमी द्वारा नौ खंडों में प्रकाशित

सूर्यमल्ल मीसण प्रणीत

ऐतिहासिक महाकाव्य

वंश भास्कर

विशेष छूट
डाक दर साहित
मात्र 4000 रुपए
प्रति सेट



वंश भास्कर जिसके पारायण से राजाओं ने राजत्व समझा, पंडित-शास्त्रियों ने नीति और शास्त्र गुना, कलावंतों ने कलाएँ जानीं, कवि-आचार्य साहित्य की परख करने में समर्थ बने और राजस्थान के इतिहास प्रणेताओं ने इसे आधार बनाकर चलने में ही अपनी सिद्धि देखी। युवा मरुवीरों ने इसमें अपने रक्त का रंग देखा, बालवृंद ने केसरिया रंग का जादू समझा तो वृद्धजनों ने इसे पढ़कर मूँछों पर अपने हाथ धरे। इस प्रकार *वंश भास्कर* काव्य और इतिहास के रूप में ही नहीं, अपितु भारतीय ज्ञान परंपरा के समृद्ध कोष और राजस्थानी सभ्यता-संस्कृति के स्मारक के रूप में प्रख्यात हुआ।

—*प्रो. आलमशाह ख़ान*

अर्थ प्रबोधनी टीका एवं संपादन

चंद्रप्रकाश देवल

ISBN : 81-260-2490-9

मूल्य प्रति सेट : 5000 रुपए

ए. कृष्णमूर्ति, सचिव द्वारा साहित्य अकादेमी के लिए प्रकाशित तथा विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032 से मुद्रित।
संपादक : अरुण प्रकाश



SAMAKALIN BHARATIYA SAHITYA ISSN 0970-8367/Regd. No. DELHIN/1980/1009